ISSN 0972-1002

श्रमण
ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXIV No.II April-June 2013

आगम उपदेशक भगवान महावीर

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
Established : 1937

श्रमण

ŚRAMAṆA

(Since 1949)

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXIV No. II April-June2013

Joint Editor

Ashok K. Singh

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

(Established: 1937)

(Recognized by Banaras Hindu University as an External Research Centre)

ADVISORY BOARD

Dr. Shugan C. Jain
Chairman, New Delhi

Prof. Cromwell Crawford
Univ. of Hawaii

Prof. Anne Vallely
Univ. of Ottawa, Canada

Prof. Peter Flugel
SOAS, London

Prof. Christopher Key Chapple
Univ. of Loyola, USA

Prof. Ramjee Singh
Bheekhampur, Bhagalpur

Prof. Sagarmal Jain
Prachya Vidyapeeth, Shajapur

Prof. K.C. Sogani
Chittaranjan Marg, Jaipur

Prof. D.N. Bhargava
Bani Park, Jaipur

Prof. Prakash C. Jain
JNU, Delhi

EDITORIAL BOARD

Prof. M.N.P. Tiwari
B.H.U., Varanasi

Prof. K. K. Jain B.H.U.,Varanasi

Dr. A.P. Singh, Ballia

Prof. Gary L. Francione
New York, USA

Prof. Viney Jain, Gurgaon

Dr. S. P. Pandey, PV, Varanasi

EDITORIAL STAFF

Dr. Ruchi Rai, PV, Varanasi

ISSN: 0972-1002

SUBSCRIPTION

Annual Membership	*Life Membership*
For Institutions : Rs. 500.00, $ 50	For Institutions : Rs. 5000.00, $ 250
For Individuals : Rs. 150.00, $ 30	For Individuals : Rs. 2000.00, $ 150

Per Issue Price : Rs. 50.00, $ 10

Membership fee & articles can be sent in favour of Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5

PUBLISHED BY

Shri Indrabhooti Barar, for Parshwanath Vidyapeeth, I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005, Ph. 0542-2575890

Email:

pvpvaranasi@gmail.com

NOTE: The facts and views expressed in the Journal are those of authors only. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

Theme of the Cover : आगम उपदेशक भगवान महावीर

Printed by- Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

Contents

From Chairperson's Desk iv

सम्पादकीय v-vi

१. **जैन अंग-आगम में वासुदेव श्रीकृष्णः एक विवेचन** 1-18
पद्म मुनि

२. **जैनदर्शन में संशय का स्वरूप** 19-25
वीरसागर जैन

३. **जैन दार्शनिक साहित्य** 26-31
अशोक कुमार सिंह

४. **रत्नाकरावतारिका में शब्दार्थ-सम्बन्ध विमर्श** 32-36
अर्चना रानी दुबे

५. **मनःपर्ययज्ञानः विशेषावश्यकभाष्य के विशेष सन्दर्भ में** 37-45
पवन कुमार जैन

6. **Ardhamāgadhi Jaina Canons:Editing, Translation, Publication and Research** 46-63
Ashok K. Singh

7. **Concept of Substance, Quality and Modes in Jainism** 64-92
Shriprakash Pandey

स्थायी स्तम्भ

पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार 93-96

जैन जगत् 97-98

साहित्य-सत्कार

पुस्तक समीक्षा 99-103

साभार प्राप्ति 104

Our Contributors 105

From the Chairperson's Desk

Jai Jinendra,

I happily announce the publication of April-June 2013 issue of Śramaṇa. This issue focusses on Jain canonical literature and philosophy. The editorial board and the support staff had to work hard in order to select a few substantive papers on the subject from among larg number of submissions. It is true that to be able to contribute new insights into this largely overworked area is a difficult task. We congratulate the contributers for having undertaken this arduous task.

We have included a few papers from the academic staff of Parshwanath Vidyapeeth to encourage them to delve deeper into this topic and share their knowledge with you. I myself was very keen to write a paper on 'Concept of Reality and its impact on Jaina ethics' but due to my active involvement in the too extremely tight schedule of three summer school groups attended by 50 overseas scholars, I was not able to present a paper for this issue. There are a number of highly discussed topics like the concept of abhvaya, female status and liberation, concept of time and change and Jain atheist religion which I particularly wished to have papers on but could not receive any. May be in later issues of Śramaṇa we shall try to discuss these topics further. This issue contains seven papers, primarily referring to canonical literature and a few philosophical issues raised for analysis.

Śramaṇa is also now available on our website www.pv-edu.in. You can download the same and enjoy reading it. In fact, we strongly recommend our readers to use this facility to help us economise on the cost of publication. You can also access earlier issues of Śramaṇa from this website.

Wishing you an enjoyable rainy season and a religious chaturmasa.

Shugan C Jain
Chairman

सम्पादकीय

अप्रैल-जून अंक २०१३, जिसका विषय जैन आगम और दर्शन है। जैन परम्परा में जीवन का प्रमुख लक्ष्य मोक्ष मार्ग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी त्रिरत्न को मोक्ष मार्ग बताया गया है। तीर्थंकरोपदिष्ट त्रिरत्न का स्वरूप जानने का प्राचीनतम स्त्रोत आगम है। जैनागमों के सम्यक् अध्ययन के अभाव में जैन विद्या के स्वरूप का भलीभाँति ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। जैन आगम साहित्य और जैन दर्शन के क्षेत्र में नवीन विषयों पर लिखे लेखों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से 'श्रमण' के इस अंक हेतु जैन आगम साहित्य और जैन दर्शन से सम्बन्धित लेख विद्वानों से आमन्त्रित किये गये थे।

प्राप्त लेखों को अपने-अपने क्षेत्र के पारंगत विद्वानों के पास मूल्यांकन एवं सुझाव हेतु भेजा गया। उनके सुझावों के अनुसार लेखों में सुधारकर इन्हें प्रकाशित किया जा रहा है। हिन्दी के पाँच लेखों में से एक अंग आगमों में वासुदेव श्रीकृष्ण आगम साहित्य पर आधारित है। शेष सभी लेख जैन दर्शन सम्बन्धित हैं। जैन दार्शनिक साहित्य शीर्षक लेख में जैन दर्शन के ग्रन्थों का नाम-निर्देश ग्रन्थकार के अनुसार कालक्रम से किया गया है। अंग्रेजी के दोनों लेखों में से एक अर्धमागधी आगम के सम्पादन, अनुवाद, प्रकाशन एवं आगम साहित्य पर हुए शोध का विवरण प्रस्तुत करता है। दूसरा लेख जैन दर्शन से सम्बन्धित है और जैन द्रव्य-गुण और पर्याय की अवधारणा का मूल ग्रन्थों के आधार पर गम्भीर विवेचन करता है।

पूज्य श्रमण-श्रमणियों का चातुर्मास आरम्भ हो चुका है। यह चातुर्मास आध्यात्मिकता से पूर्ण एवं सभी के लिए सब प्रकार से शुभ हो एसी मंगलकामना करते हैं।

मुख पृष्ठ: आगम उपदेशक भगवान महावीर

जैन परम्परा में आगमों का वही स्थान है जो वैदिक परम्परा में वेद और बौद्ध परम्परा में त्रिपिटक का है। वेद अपौरुषेय हैं उनका कोई कर्त्ता नही है परन्तु वर्तमान जैन आगम एवं त्रिपिटक क्रमश: भगवान महावीर और भगवान बुद्ध के उपदेश माने जाते हैं। जैन आगमों के विषय में मान्यता है कि अर्हत् (अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर) ने अर्थ रूप में इनका उपदेश दिया था और शब्द रूप में ये गणधरों द्वारा रचित माने जाते हैं- आवश्यकनिर्युक्ति में कहा भी गया है -

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणधरा निउणा।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ।।९२।।

अर्थात् तीर्थङ्कर अर्थ का उपदेश या कथन करते हैं और निपुण गणधर शासन के हित के लिए सूत्र की रचना करते हैं। इस प्रकार आगम के सूत्र का प्रवर्तन होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य मलयगिरि ने भी नन्दीसूत्रटीका में कहा है- गणधरदेवा हि मूलभूतमाचारादिकं श्रुतमपरचयन्ति, तेषामेव सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसम्पन्नतया तद्रचयितुमीशत्वात् । दूसरे शब्दों में गणधरों में सर्वोत्कृष्ट श्रुतलब्धि होती है। उसी से वे मूलभूत आचारादि आगमों की रचना करने में समर्थ होते है । (नन्दीटीका, मलयगिरि, आगमसुत्ताणि (सटीक), भाग ३०, पृ० १९६)

किन्तु यह तथ्य केवल बारह अंग आगमों के सन्दर्भ में ही प्रासङ्गिक है। अन्य उपाङ्ग, मूलसूत्र, छेदसूत्र, प्रकीर्णक और चूलिका तो विभिन्न स्थविरों और पूर्वधर आचार्यों की कृति ही माने जाते हैं। परन्तु अङ्गेतर सभी आगमों का कर्तृत्व ज्ञात नहीं है। प्रज्ञापना (श्यामाचार्य), दशवैकालिक (आर्य शय्यम्भवसूरि) और तीन छेदसूत्र (आचार्य भद्र बाहु) के अतिरिक्त अन्य आगमों का कर्तृत्व अज्ञात हैं।

वर्तमान में उपलब्ध श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगमों का उपलब्ध स्वरूप देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वीरनिर्वाण संवत् ९८० या ९९३ में हुई वलभी (सौराष्ट्र) वाचना का परिणाम है।

जैन अंग-आगम में वासुदेव श्रीकृष्ण: एक विवेचन

प.पू.पद्म मुनि

[पूज्य पद्म मुनि द्वारा लिखित इस लेख में जैन अंग साहित्य में उपलब्ध सामग्री के आधार पर वासुदेव श्रीकृष्ण का जीवन चरित प्रस्तुत किया गया है। लेख में यथास्थान आगम साहित्य से मूल भी उद्धृत किया गया है। भारतीय संस्कृति में श्रीकृष्ण ऐसे विरले महापुरुषों में हैं जिन्हें वैदिक, जैन और बौद्ध परम्परायें समान रूप से महत्त्व देती हैं। इस लेख में जैन अंग साहित्य के साथ-साथ वैदिक साहित्य में वर्णित श्रीकृष्ण चरित की मुख्य विशेषताओं को भी प्रस्तुत किया गया है। जैन अंगों में, स्थानांग, समवायांग, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशांग तथा प्रश्नव्याकरण में कृष्णचरित्र क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध न होकर विशृंखल रूप में मिलता है। यहां कृष्ण का उल्लेख प्राय: अन्य किसी आख्यान के विवेचन के प्रसंग में आया है। जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य के आधार पर श्रीकृष्णचरित प्रस्तुत करने का यह प्रयास प्रशंसनीय है।] **-सम्पादक**

भारतीय संस्कृति मूलत: दो संस्कृतियों में विभक्त है- (१) वैदिक संस्कृति और (२) श्रमण संस्कृति। इन दोनों में जहाँ वैदिक संस्कृति प्रवृत्ति मूलक है वहाँ श्रमण संस्कृति निवृत्ति प्रधान है। भारतीय सभ्यता एवं विकास का स्वरूप इन दोनों संस्कृतियों के ताने-बाने से बुना गया है। जीवनगत व्यवहारों का सम्यक् रूप से परिपालन करते हुए आध्यात्मिक विकास को प्रमुखता देना ही दोनों संस्कृतियों का मूल उद्देश्य रहा है और इस लक्ष्य की प्राप्ति में अपनी-अपनी परम्परा-सम्मत महापुरुषों की व्यक्तित्वगत विशिष्टताओं से मिलने वाली प्रेरणाओं का अत्यन्त महत्त्व रहा है।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का समग्र जीवन जहाँ हमारे लिए आदर्श है वहीं भगवान बुद्ध की करुणा हमें नतमस्तक करा देती है। तीर्थंकर भगवान महावीर की साधना और संयम जहाँ हमारे लिए प्रेरणादायी और प्रकाशस्तम्भ है वहीं वासुदेव श्रीकृष्ण का जीवन हमें विविध सांसारिक कर्त्तव्यों का बोध करा देता है। आत्मिक-विकास की दृष्टि से इन महापुरुषों में प्राय: समानता होते हुए भी गुणों की प्रसिद्धि की दृष्टि से वासुदेव श्रीकृष्ण एक अलग ही क्षितिज पर दृष्टिगोचर होते हैं।

सर्वविदित है कि प्रत्येक धर्म परम्परा अपने-अपने आराध्य महापुरुषों का गुणानुवाद अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति से करती है, किन्तु कर्मयोगी वासुदेव श्रीकृष्ण ऐसे विरले

महापुरुष हैं जिनको वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों परम्पराएँ समान रूप से आदर देती हैं और उन्हें महापुरुष के रूप में स्वीकार करती हैं। वस्तुत: वासुदेव श्रीकृष्ण के विराट व्यक्तित्व का ही यह प्रभाव है कि अनेक धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएँ उन्हें अपने वाङ्मय में सम्मिलित करके स्वयं को गौरवान्वित महसूस करती हैं। इन सभी परम्पराओं में ऐसे भक्तों को आसानी से खोजा जा सकता है जो श्रीकृष्ण का नामस्मरण करके अपने मानस को आनन्द विभोर करते हैं और अपना आराध्य देव स्वीकार करते हैं।

वैदिक परम्परा में जहाँ कृष्ण वासुदेव को विष्णु का अवतार मानकर उन्हें भगवान् स्वीकार किया गया है[१] वहीं बौद्ध साहित्य में प्रचलित जातक कथाओं के अन्तर्गत घट जातक का सम्बन्ध कृष्ण चरित से है।[२] जैन परम्परा में कृष्ण को ६३ शलाका-(श्लाघनीय, प्रशंसनीय) पुरुषों के अन्तर्गत ५४ वां शलाका पुरुष[३] माना गया है तथा उन्हें भावी तीर्थंकर के रूप में स्वीकार किया गया है।[४] ध्यातव्य है कि जैन परम्परा में जीवन के विकास का सर्वोच्च पद तीर्थंकर पद के रूप में स्वीकृत है। तीर्थंकर के बाद चक्रवर्ती और अर्ध-चक्रवर्ती के रूप में वासुदेव की परिगणना है। चक्रवर्ती जहाँ छ: खण्ड के अधिपति होते हैं वहाँ वासुदेव तीन खण्ड के अधिपति माने गये हैं। अत: कृष्ण वासुदेव तीन खण्ड के अधिपति थे।[५] श्रीकृष्ण गत जीवन में वासुदेव रहें हैं और भावी जीवन में तीर्थंकर होंगे। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जैन परम्परा में वे कितने उच्चकोटि के सम्मानित महापुरुष हैं।

जैन परम्परा प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालखण्ड में नौ-नौ वासुदेवों का होना मानती है और वर्तमान अवसर्पिणीकाल के नौवें अर्थात् अंतिम वासुदेव के रूप में श्रीकृष्ण को स्वीकार करती है।[६] इस प्रकार स्पष्ट है कि उक्त तीनों परम्पराओं में बड़े आदर के साथ कृष्ण वासुदेव का गुणोत्कीर्तन किया गया है। उनके अद्भुत व्यक्तित्व को देखकर यह बोध हो जाता है, महापुरुषों का जीवन, क्षेत्र और काल की सीमा से परे अर्थात् देशातीत और कालातीत हो जाता है। सचमुच में कृष्ण वासुदेव युगपुरुष थे। उनका जीवन क्षीरसागर की भाँति विराट और तृप्तिदायक था। अत: सर्वत्र उन्हें श्लाघनीय और वन्दनीय स्वीकार किया गया है।

भारतीय धर्मपरम्पराओं में सदैव सदाचार तथा न्याय-नीति सम्पन्न जीवन को ही सर्वोच्च प्रतिष्ठा दी गई है। सत्ता और विद्वत्ता की भी प्रतिष्ठा है किन्तु उसमें धर्म, न्याय, नीति आदि सदाचार के गुण हों तभी, अन्यथा धर्माचरण विहीन मनुष्य कितना ही सत्ता-सम्पन्न क्यों न हो जाए, वह कभी जगत्-पूज्य नहीं हो सकता। कृष्ण

वासुदेव की भी जो प्रतिष्ठा उक्त परम्पराओं में दृष्टिगोचर होती है वह सत्ताबल के कारण नहीं अपितु न्याय-नीति सदाचार युक्त धर्मबल के कारण ही है। राजनैतिक क्षेत्र में धर्म का सफल प्रयोग करने वाले कृष्ण वासुदेव लोक धर्म के संस्थापक और अद्वितीय महापुरुष थे।

वैदिक परम्परा में श्रीकृष्ण - वासुदेव श्रीकृष्ण के जीवन की घटनाओं एवं उनकी विशेषताओं का विस्तृत विवेचन हमें वैदिक साहित्य[७] में प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हो जाता है। ऋग्वेद में कृष्ण के तीन रूपों का उल्लेख मिलता है- (१) मंत्रद्रष्टा ऋषि (अष्टम एवं दशम मंडल), (२) अपत्यवाचा (प्रथम मंडल) और (३) कृष्णासुर के रूप में (अष्टममंडल)।[८] ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त तीनों रूपों का सम्बन्ध वासुदेव श्रीकृष्ण के साथ नहीं अपितु कृष्ण नामक किसी अन्य ऋषि आदि के साथ है क्योंकि वासुदेव श्रीकृष्ण वेदों से परवर्ती काल के महापुरुष हैं।

ऐतरेय आरण्यक में कृष्ण हरित नाम का उल्लेख है,[९] तैत्तिरीय आरण्यक में कृष्ण के देवत्व की चर्चा है।[१०] कौशीतकि ब्राह्मण तथा छान्दोग्योपनिषद् में आंगिरस कृष्ण का उल्लेख है।[११] सम्भवत: यह नाम 'आंगिरस ऋषि' के पास अध्ययन करने के कारण दिया गया होगा।

महाभारत में कृष्ण को वासुदेव, विष्णु, नारायण, गोविन्द, देवकीनन्दन आदि नामों से अभिहित किया गया है।[१२] अट्ठारह पुराणों में से लगभग दश पुराणों –गरुड़पुराण, कूर्मपुराण, वायुपुराण, अग्निपुराण, नारदपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, हरिवंशपुराण, देवी भागवत, श्रीमद्भागवत आदि में कृष्ण के दिव्य रूप का उल्लेख मिलता है। श्रीमद् भागवत तथा विष्णुपुराण में उन्हें ब्रह्मा और विष्णु सहित सभी देवताओं के लिए वन्दनीय बताया गया है।[१३]

वैदिक परम्परा में विशेषतया कृष्ण की बाल्यावस्था तथा युवावस्था को लेकर विपुल साहित्य की रचना की गई है, जिसमें बाल्यावस्था के चमत्कार एवं युवावस्था की रास लीलाओं और वीरता को लेकर कवियों ने अपनी कमनीय कल्पना की तूलिका से चित्ताकर्षक चित्रण किया है। इतना ही नहीं यह परम्परा उन्हें पूर्णावतार कहकर परिपूर्ण महापुरुष के रूप में स्वीकार करती है। श्रीमद्भागवत में उन्हें परम ब्रह्म कहकर सम्बोधित किया गया है।[१४]

भारतीय जनमानस में सर्वाधिक प्रभाव डालने वाले दो महापुरुष हैं- कृष्ण और राम, जिनकी कथाएँ आबाल-वृद्ध को आनन्द विभोर कर देती हैं। दोनों ही विष्णु

के अवतार माने गए हैं, किन्तु इतना होने पर भी दोनों में प्रमुख अन्तर है कि जहाँ राम अंशावतार हैं वहाँ कृष्ण को पूर्णावतार माना गया है। पूर्णावतार का तात्पर्य है जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शिखर पर पहुंचा हुआ महापुरुष। राम का जीवन मर्यादित है इसीलिए वे मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं, किन्तु कृष्ण का जीवन समुद्र की तरह विस्तृत है, कोई मर्यादा उन्हे सीमित नहीं कर सकी अतएव वे पूर्णावतार कहलाए।

बाल्यावस्था में कृत विभिन्न प्रकार की चामत्कारिक घटनाएँ, शिशुपाल के मृत्यृदण्ड योग्य सौ अपराधों को क्षमा करना, कंस का संहार करके अत्याचार को जड़ से मिटाने का प्रयास, द्रौपदी की तार-तार होती लज्जा की सुरक्षा, महाभारत का युद्ध टालने के लिए अपने ही अधीनस्थ राजाओं के पास शान्तिदूत बनकर जाना तथा हतोत्साहित अर्जुन को कर्त्तव्य का बोध कराना और गीता का अद्भुत ज्ञान प्रदान करके कर्मयोग, स्थितप्रज्ञता, अनासक्तयोग आदि की प्रतिष्ठा करना इत्यादि ऐसी विशेषताएँ हैं जिनकी वजह से वे पूर्णावतार कहलाए। उन्हें साक्षात् विष्णु का अवतार माना गया है। देखा जाए तो समूची वैदिक परम्परा कृष्णमय नजर आती है। जिस प्रकार महाभारत में से यदि कृष्ण को निकाल दिया जाए तो कुछ भी सार्थक शेष नहीं बचता, उसी प्रकार वैदिक परम्परा में से यदि कृष्ण को निकाल दिया जाए तो समूची परम्परा अधूरी हो जाती है। वर्तमान में प्राय: सर्वत्र आयोजित होने वाली कृष्ण-लीलाएँ तथा रास-लीलाएँ जनमानस में कृष्ण के प्रभाव को दर्शाने के लिए पर्याप्त हैं।

जैन परम्परा में श्रीकृष्ण- कर्मयोगी वासुदेव श्रीकृष्ण के उदात्त व्यक्तित्व ने प्रत्येक भारतीय धर्म-परम्परा को प्रभावित किया है। जैन परम्परा भी इस प्रभाव से स्नात है। २२वें तीर्थंकर अर्हत अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण वासुदेव एक ही कुल के एवं चचेरे भाई रहे हैं।[१५] अत: जैन परम्परा में जहाँ-जहाँ अरिष्टनेमि का वर्णन हुआ है वहाँ-वहाँ अनायास ही श्रीकृष्ण का भी वर्णन प्राप्त हो जाता है। उम्र में कृष्ण बड़े थे तो आध्यात्मिक समृद्धि की दृष्टि से तीर्थंकर होने के नाते अरिष्टनेमि बड़े थे। दोनों महापुरुषों का अनुस्यूत जीवन सचमुच में अनेक लोगों के लिए अध्यात्म का मार्ग प्रशस्त करने वाला था।

जैन साहित्य में सर्वाधिक महत्व आगम साहित्य का है और यही प्राचीनतम साहित्य है। आगम साहित्य के आधार पर परवर्ती काल में वैविध्यपूर्ण विपुल साहित्य रचा गया जिसमें हमें वासुदेव श्रीकृष्ण का जीवनवृत्त क्रमबद्ध एवं विस्तृत रूपेण प्राप्त हो जाता है, किन्तु उनसे पूर्ववर्ती और प्राचीन-अंग-आगम साहित्य में,जो कि साक्षात् तीर्थंकर महावीर एवं उनके मेधावी शिष्य गणधरों से सम्बंधित है, उनका सम्मान

के साथ जो उल्लेख प्राप्त होता है उससे उनके जीवन की व्यापकता को सहज ही अनुमानित किया जा सकता है।

यहाँ ध्यातव्य है कि कृष्ण के जीवन का जो स्वरूप हमें वेद-मूलक साहित्य में मिलता है, वह जैन साहित्य में प्राय: नहीं है। वेद-मूलक साहित्य में जहाँ उनकी बाल्यावस्था एवं युवावस्था का उसमें भी विशेषकर महाभारत तक का जीवनवृत्त अत्यन्त विस्तार के साथ विवेचित है वहीं जैन साहित्य में उनकी युवावस्था के बाद का जीवन-वृत्त विस्तृत रूपेण विवेचित हुआ है। जैन साहित्य में मिलने वाला युवावस्था से पूर्व का जीवन-वृत्त वस्तुत: वैदिक परम्परा के साहित्य से प्रभावित प्रतीत होता है।

वैदिक परम्परा में वे वासुदेव इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वे वसुदेव के पुत्र हैं, किन्तु जैन परम्परा में उनको वासुदेव कहने का कारण बिल्कुल भिन्न है। वहाँ पर वासुदेव पद शलाका महापुरुषों की श्रेणी में एक पदवी विशेष है। अत: जैन परम्परा में वे वासुदेव सुत होने से नहीं अपितु उस विशिष्ट पदवी के धारक होने से वासुदेव कहलाते हैं[१६] अन्यथा जिनके पिता का नाम वसुदेव नहीं है, उनको वासुदेव नहीं कहा जाता। जैन परम्परा में इस अवसर्पिणी काल में नौ वासुदेव हुए हैं, जैसे-

तिविट्ठू य दुविट्ठू य, सयंभू पुरिसुत्तमे।
पुरिससीहे तह पुरिसपुंडरीए, दत्त नारायणे कण्हे।।

अर्थात् (१) त्रिपृष्ठ, (२) द्विपृष्ठ, (३) स्वयंभू, (४) पुरुषोत्तम, (५) पुरुषपुण्डरीक, (७) दत्त, (८) नारायण (लक्ष्मण) और (९) कृष्ण, ये नौ वासुदेव हुए हैं।[१७]

इन सभी वासुदेवों के पिताओं का नाम क्रमश: इस प्रकार है,-(१) प्रजापति, (२) ब्रह्म,(३) रुद्र, (४) सोम, (५) शिव, (६) महाशिव, (७) अग्निशिव, (८) दशरथ और (९) वसुदेव। यथा-

पयावती य बंभे, रोद्दे सोमे सिवेति य।
महसिहे अग्गिसिहे, दसरहे नवमे य वसुदेवे।।[१८]

जैन परम्परा में श्रीकृष्ण एक शलाका पुरुष हैं। भगवान् अरिष्टनेमि ने उन्हें भावी-तीर्थंकर कहा है 'आगमेसाए उस्सप्पिणीए पुंडेसु जणवदेसु सयदुवारे बारसमे अममे नामं अरहा भविस्ससि'।[१९] उनके सम्पूर्ण जीवन में किसी प्रकार की स्खलना दृष्टिगोचर नहीं होती। अर्हंत अरिष्टनेमि के सम्पर्क का ही यह प्रभाव मालूम पड़ता है कि कृष्ण के जीवन में अहिंसा आदि आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा इतनी अधिक थी कि उनके

समग्र जीवन में वह पैठ गई थी। राजागण प्राय: आखेट-प्रिय होते थे किन्तु कृष्ण के जीवन में शिकार खेलने का एक भी प्रसंग नहीं मिलता, इससे भी उनके अहिंसक होने का पता चल जाता है। वासुदेव होने के कारण उन्हें ३६० संग्राम करने पड़ते थे,[२०] पर वे युद्धप्रेमी नहीं थे। वे सदा ही युद्ध को टालने का प्रयास करते रहे हैं। महाभारत का युद्ध रोकने के लिए अपने ही अधीनस्थ राजाओं (कौरवों) के पास अपने ही अधीनस्थ राजाओं (पाण्डवों) का शान्तिदूत बनकर जाना यह प्रमाणित करता है कि वे युद्ध को टालने का भरसक प्रयास करते थे। वे शाकाहार के समर्थक थे, उनके जीवन में कहीं भी मांसाहार का उल्लेख नहीं मिलता। उन्होंने अनेक सुन्दरियों के साथ विवाह अवश्य किया, पर वे भोग को श्रेष्ठ नहीं मानते थे। उन्होंने अपने पुत्रों, पुत्रबधुओं, धर्मपत्नियों आदि को संयम-मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। नागरिकों में से जो कोई भी प्रभु के चरणों में दीक्षित होता था उसे वे पूर्ण सहायता प्रदान करते थे इतना ही नहीं दीक्षार्थियों के द्वारा दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् घर में रहे हुए शेष पारिवारिक जनों के भरण-पोषण का भी वे पूर्ण ध्यान रखते थे।[२१] वे पूर्ण गुणानुरागी थे। दुर्गुणों की तरफ ध्यान जाता ही नहीं था। उन्होंने मृत श्वान के शरीर में से निकलती दुर्गन्ध एवं उसकी कुरूपता की तरफ ध्यान न देकर उसकी मनोहारिणी दंतपंक्ति की प्रशंसा की थी।[२२] वे तीन खण्ड के अधिपति होकर भी एक वृद्ध की सहायता स्वयं ईंट उठाकर करते हैं। वे उत्कृष्ट मातृभक्त हैं अत: अपने दिन का प्रारम्भ माँ के चरणों में वन्दना करके ही करते हैं।[२३]

अंग-आगमों में श्रीकृष्ण का वैशिष्ट्य- जैन अंग-ग्रन्थों की संख्या बारह है।[२४] बारहवां अंगसूत्र 'दृष्टिवाद' लुप्त है तथा शेष ग्यारह अंग- (१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), (६) ज्ञाताधर्मकथा, (७) उपासकदशा, (८) अन्तकृद्दशा, ९ अनुत्तरौपपातिकदशा, (१०) प्रश्नव्याकरण और (११) विपाकसूत्र, वर्तमान में उपलब्ध हैं।[२४] उपलब्ध जैन अंग-आगमों में से स्थानांग, समवायांग, नायाधम्मकहाओ, अन्तकृद्दशांग तथा प्रश्नव्याकरणसूत्र में कृष्ण वासुदेव के जीवन की विशेषताओं का कम या अधिक मात्रा में विवेचन उपलब्ध होता है।

उपलब्ध अंग-ग्रन्थों में कृष्णचरित्र का विवेचन क्रमबद्ध न होकर विशृंखल रूप में हुआ है। किन्तु परवर्ती साहित्य त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, चउपन्नमहापुरिसचरियं, वसुदेवहिण्डी, हरिवंशपुराण, भवभावना आदि ग्रंथों में वह विस्तृत एवं क्रमबद्ध रूपेण विवेचित हुआ है। जैनागम में कृष्ण का उल्लेख प्राय: अन्य किसी आख्यान के विवेचन के प्रसंग में आया है, वे किसी अध्याय-विशेष के मुख्यपात्र नहीं हैं। किन्तु

इससे उनकी महत्ता न्यून नहीं होती अपितु मुख्यपात्र न होकर भी आगम के कतिपय अध्याय कृष्णमय प्रतीत होते हैं, यह उनके व्यक्तित्व की व्यापकता के कारण ही है। जैनागमों में भावी तीर्थंकर के रूप में उन्हें स्वीकार करके उन्हें सर्वश्रेष्ठ महत्ता प्रदान की गई है।[२५]

जैन ग्रंथों के अनुसार कृष्ण गुण-सम्पन्न और सदाचार-निष्ठ थे, अत्यन्त ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी महापुरुष थे। उन्हें ओघबली, अतिबली, महाबली अप्रतिहत और अपराजित कहा गया है। वे इतने बलशाली थे कि महारत्न वज्र को भी चुटकी से पीस डालते थे।[२६]

श्रीकृष्ण के बाह्य व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए आचार्य देवेन्द्र मुनि जी[२७] लिखते हैं- "श्रीकृष्ण का शरीर मान, उन्मान और प्रमाण, पूरा, सुजात और सर्वांग सुन्दर था। वे लक्षणों, व्यंजनों और गुणों से युक्त थे। उनका शरीर दस धनुष लम्बा था। वे अत्यन्त दर्शनीय-कान्त, सौम्य, सुभग और प्रियदर्शी थे अर्थात् उनको देखकर बार-बार देखने का मन होता था एवं वे अत्यन्त प्रिय लगते थे। वे प्रगल्भ, विनयी और धीर थे। सुखशील होने पर भी उनके पास आलस्य फटकता नहीं था। उनकी वाणी गम्भीर, मधुर और प्रीतिपूर्ण थी। उनका निनाद क्रौंच पक्षी के घोष, शरद् ऋतु की मेघध्वनि और दुन्दुभि की तरह मधुर व गम्भीर था। वे सत्यवादी थे। उनकी चाल श्रेष्ठ गजेन्द्र की तरह ललित थी उनके तन पर पीले रंग का कौशेय वस्त्र शोभित होता था। उनके मुकुट में उत्तम धवल, शुक्ल, निर्मल कौस्तुभ मणि लगी रहती थी। उनके कान में कुण्डल, वक्ष में एकावली हार तथा श्रीवत्स का चिह्न अंकित था। वे दुर्धर धनुर्धर थे। उनके धनुष की टंकार बड़ी ही उद्घोषणकर होती थी। वे शंख, चक्र, गदा, शक्ति और नन्दक धारण करते थे तथा ऊंची गरुड़ ध्वजा के धारक थे इत्यादि।

अंग साहित्य में उपलब्ध श्रीकृष्ण से सम्बन्धित तथ्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

(१) स्थानांग सूत्र - स्थानांग सूत्र तृतीय अंग-आगम है, इसमें पुरुष तीन प्रकार के कहे गये हैं- उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और जघन्य पुरुष। इनमें से उत्तम पुरुष के पुनः तीन भेद किए गये हैं- धर्मपुरुष (अर्हत्), भोगपुरुष (चक्रवर्ती) और कर्मपुरुष (वासुदेव)। चूंकि कृष्ण वासुदेव हैं अतः जैनागमों में उनकी गणना उत्तम कर्मपुरुष के रूप में हुई है। स्थानांगसूत्र में ही ऋद्धिमान अर्थात् वैभवशाली मनुष्य पाँच प्रकार के बताए गए हैं जैसे– (१) अर्हत्, (२) चक्रवर्ती (३) बलदेव, (४) वासुदेव और (५) अणगार। इस प्रकार वासुदेव श्रीकृष्ण की गणना ऋद्धिमान् पुरुषों में की गई है। स्थानांगसूत्र के अष्टम स्थान में बताया गया है-

कण्हस्स णं वासुदेवस्स अट्ठ अग्गमहिसीओ अरहतो णं अरिट्ठनेमिस्स अंतितं मुंडा भवेत्ता अगारातो अणगारितं पव्वतित्ता सिद्धओ जाव सव्वदुक्खप्पहीणाओ, तंजहा पउमावई य गोरी, गंधारी लक्खणा सुसीमा य। जंबवती सच्चभामा, रुप्पिणी कण्हग्गमहिसीओ।।९७।।[२८] अर्थात् कृष्ण की आठ पटरानियों-पद्मावती, गौरी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा, गांधारी और रुक्मिणी ने भगवान् अरिष्टनेमि के पास मुंडित, प्रव्रजित होकर सर्वदु:खों से रहित सिद्धावस्था को प्राप्त किया।

(२) समवायांग सूत्र- चतुर्थ अंग-आगम समवायांगसूत्र के अनुसार प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव आदि श्लाघनीय महापुरुष होते हैं। वहाँ वर्तमानकालीन एवं आगामीकालीन उक्त महापुरुषों के नामों का भी उल्लेख है। सम्भवतया इसी आधार पर शीलांकाचार्य ने चउपन्न महापुरिस चरियं की रचना की है। उक्त संख्या में यदि ९ प्रतिवासुदेवों को भी जोड़ दिया जाए तो यह संख्या ६३ हो जाती है । इन ६३ महापुरुषों को लेकर ही हेमचन्द्राचार्य के द्वारा त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष चरित्र नामक ग्रंथ की रचना हुई है।

इस प्रकार समवायांग सूत्र[२९] में ५४ शलाका महापुरुषों का वर्णन करते हुए कृष्ण की विशेषताओं का उल्लेख विस्तार से किया गया है तथा श्रीकृष्ण के द्वारा तत्कालीन प्रतिवासुदेव जरासंध के वध का भी विस्तार से विवेचन किया गया है। यहाँ वासुदेव और प्रतिवासुदेव का आचरण भी वर्णित है। चूंकि जैन परम्परा में प्रतिवासुदेव की मृत्यु वासुदेव के ही हाथों होना माना गया है। अत: जरासंध की मृत्यु के बाद ही कृष्ण वासुदेव के अधिकारों को प्राप्त कर सके थे। यहाँ कृष्ण की अनेक विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा गया है- वे अतिबल, महाबल, निरुपक्रम आयुष्य वाले, अपराजित, शत्रु का मान मर्दन करने वाले, दयालु, गुणग्राही, अमत्सर, अचपल, अक्रोधी तथा रोष-शोकादि से रहित गम्भीर स्वभाव वाले थे।

स्पष्ट है कि इन सभी उद्धरणों में कृष्ण वासुदेव का शलाका महापुरुष के रूप में उल्लेख हुआ है। वे नौवें और अंतिम वासुदेव थे तथा २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के भ्राता थे[३०] अर्थात् अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय और कृष्ण के पिता वसुदेव– दोनों भाई थे अत: स्पष्ट है कि अरिष्टनेमि और कृष्ण भी भाई थे।

(३) ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र- छठें अंग-आगम-ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के पांचवें और सोलहवें अध्ययन में कृष्ण वासुदेव की विविध विशेषताओं का वर्णन हुआ है। पंचम अध्याय से उनकी आध्यात्मिक अभिरुचि का पता लगता है। जब उनको पता चलता है कि थावच्चापुत्र दीक्षा लेना चाहता है तब उन्होंने तुरन्त कहा कि उसका दीक्षाभिषेक

मैं कराऊंगा तथा उसी समय स्वयं ही थावच्चापुत्र से मिलने उसके घर पहुँचे। वे चाहते तो थावच्चापुत्र को अपने पास बुलवा सकते थे किन्तु वे धर्मपथ पर बढ़ने वालों को अत्यन्त महत्त्व दिया करते थे अत: स्वयं थावाच्चा के घर पधारते हैं। इतना ही नहीं वे अत्यन्त चतुराई के साथ थावच्चापुत्र के वैराग्य की परीक्षा करते हुए कहते हैं- हे देवानुप्रिय! मैं तुम्हारे आसपास से गुजरने वाली हवा को छोड़कर किसी भी समस्या से तुम्हारी रक्षा करूंगा अत: तुम अभी दीक्षित मत होओ। इसके जवाब में थावच्चापुत्र कहता है- हे देवानुप्रिय! यदि आप जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु से मुझे बचा सकते हैं तो मैं आपका प्रस्ताव स्वीकार करूंगा।

इस उत्तर को सुनकर कृष्ण अवाक् रह गए और प्रेरणा देते हुए कहने लगे कर्मक्षय होने पर ही जरा और मृत्यु से छुटकारा हो सकता है। यह सुनकर थावच्चापुत्र ने कहा- मैं कर्मक्षय करने के लिए ही दीक्षित होना चाहता हूँ। इस संकल्प को सुनकर प्रमुदित मन वाले कृष्ण वासुदेव ने थावच्चापुत्र के साथ दीक्षा लेने को तैयार एक हजार दीक्षार्थियों का दीक्षा-महोत्सव अत्यन्त उत्साह के साथ करवाया।[३१]

इस कथानक से कृष्ण वासुदेव की धार्मिक अभिरुचि का स्पष्टतया परिबोध प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रस्तुत आगम के सोलहवें अध्याय में उनकी अद्वितीय शक्ति का मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है, जैसे- एगाए बाहाए रहं सतुरगं ससारहिं गेण्हइ, एगाए बाहाए गंगं महानइं बासट्ठि जोयणाइं अद्धजोयणं च वित्थिण्णं उत्तरिउं पयत्ते यावि होत्था[३२] अर्थात् लवण समुद्र के बाहर धातकी खण्ड में स्थित, द्रौपदी का अपहरण करने वाले अमरकंकाधिपति पद्मनाभ को पराजित करके हस्तिनापुर लौटते समय कृष्ण वासुदेव ने एक हाथ में घोड़ों और सारथि सहित रथ को लिया तथा दूसरे हाथ से साढ़े बासठ योजन (८०० कि० मी० लगभग) विस्तीर्ण गंगा महानदी को पार करने को उद्यत हुए और पार किया।'' इस उदाहरण से समझा सकता है कि कृष्ण वासुदेव अपार बल के स्वामी थे। तभी तो वे रथ, घोड़े और सारथि को उठाकर लगभग ८०० कि० मी० विस्तृत गंगा महानदी को पार कर सके थे। इसीलिए उन्हें अतिबली, महाबली आदि कहा गया है। इसी आगम में यह भी उल्लिखित किया गया है कि पाण्डवों की जननी कुन्ती कृष्ण की बुआ (वासुदेव की बहन) थीं। अतएव पाण्डवों के साथ कृष्ण का पारिवारिक सम्बन्ध था और इसी कारण वे द्रौपदी की रक्षा हेतु अमरकंका गए थे।

(४)अन्तकृद्दशांग सूत्र - अष्टम अंग ग्रन्थ अन्तकृद्दशांगसूत्र के आठ वर्गों में से प्रारम्भिक पाँच वर्गों में वासुदेव श्रीकृष्ण का भरपूर उल्लेख प्राप्त होता है। यहाँ उनकी

राज्यगत समृद्धि, द्वारिका का स्वरूप तथा उनके परिवार का विस्तृत उल्लेख हुआ है। इसमें कृष्ण वासुदेव की विभिन्न विशेषताओं का वर्णन हुआ है। इस सूत्र के आठ वर्गों में से प्रारम्भिक पाँच वर्गों का विवेचन कृष्ण के इर्द-गिर्द ही घूमता हुआ परिलक्षित होता है। इसमें द्वारिका नगरी का वैभव, कृष्ण की धर्मश्रद्धा, कृष्ण का समृद्ध अन्त:पुर तथा द्वारिका का विनाश, कृष्ण का देहोत्सर्ग आदि विवेचन विस्तार पूर्वक किया गया है। इसके प्रथम वर्ग के प्रथम अध्याय में द्वारिका का वैभव एवं गौतम कुमार का भव्य दीक्षोत्सव वर्णित है। तृतीय वर्ग के अष्टम अध्याय में कृष्ण के लघु भ्राता गजसुकुमार की मार्मिक कथा विवेचित है तथा पंचम वर्ग में द्वारिका के विनाश एवं कृष्ण के देहोत्सर्ग का वर्णन प्राप्त होता है।

इस आगम में कृष्ण वासुदेव की विभिन्न विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे – (१) भावी तीर्थंकर, (२) जिज्ञासु स्वरूप, (३) करुणा-पुरुष, (४) सच्चे हितैषी, (५) मातृभक्त, (६) न्यायपालक, (७) कषायविजेता, (८) धर्म प्रभावक इत्यादि। इनका क्रमबद्ध विवरण निम्नोक्त है-

(१) भावी तीर्थंकर - कृष्ण वासुदेव के जीवन का सर्वोत्कृष्ट वैशिष्ट्य है उनको भावी तीर्थंकर के रूप में स्वीकार करना। बाईसवें तीर्थंकर अर्हत् अरिष्टनेमि ने स्वयं अपने मुखारविंद से कृष्ण को भावी तीर्थंकर कहा है। इहेव जंबूद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमेसाए उस्सप्पिणीए पुंडेसु जणवएसु सयदुवारे नगरे बारसमे अममे नामं अरहा भविस्ससि। तत्थ तुमं..... परिनिव्वाहिसि सव्वदुक्खाणं अंतं काहिसि[३४] अर्थात् इसी जम्बूद्वीप के भारत वर्ष में आगामी उत्सर्पिणी में पुंड्र जनपद के शतद्वार नगर में बारहवें अमम नामक अर्हत् अर्थात् तीर्थंकर बनोगे। वहाँ तुम सभी कर्मों का क्षय करके मुक्तिलाभ करोगे।

किसी भी व्यक्ति के लिए तीर्थंकर पद प्राप्त करना जीवन के सर्वोच्च सम्मान की बात होती है। तीर्थंकर पद उच्चकोटि की साधना का परिणाम है ।[३५] अतएव अनुमान किया जा सकता है कि कृष्ण का जीवन कितना साधनामय रहा होगा।

(२) जिज्ञासु व्यक्तित्व - कृष्ण वासुदेव सत्य एवं अध्यात्म के प्रति सदैव जिज्ञासु बने रहे। अर्हत् अरिष्टनेमिनाथ का नगरी में आगमन होने पर वे अत्यन्त प्रसन्न होते और सम्पूर्ण राजपरिवार एवं नागरिकों को लेकर भगवान् के चरणों में धर्मकथा श्रवण हेतु जाया करते थे।[३६] इसी क्रम में वे एक बार भगवान् से पूछते हैं [३७]- भंते! क्या इस द्वारिका नगरी का समूल विनाश होगा? हाँ कृष्ण, इस जगत् में कोई भी पर्याय शाश्वत नहीं है अतएव सुरा, अग्नि और द्वैपायन ऋषि के निमित्त से द्वारिका का नाश होगा।''[३८]

"भगवन् मेरा भविष्य क्या होगा? अर्थात् मैं मृत्यु के उपरान्त कहाँ जाऊँगा? कृष्ण! द्वारिका-विनाश के बाद बलराम के साथ पाण्डुमथुरा की ओर जाते हुए कोशाम्रवन में न्यग्रोध वृक्ष के नीचे लेटे हुए आपके बाएँ पैर में जराकुमार द्वारा छोड़ा गया तीर लगने पर आपकी मृत्यु होगी और आपकी गति बालुकाप्रभा नामक तीसरी भूमि की होगी किन्तु कृष्ण! निराश न हो, वहाँ से निकलकर तुम अगली चौबीसी में अमम नाम के बारहवें तीर्थंकर बनोगे और सर्वकर्मों से मुक्त होकर परिनिर्वाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करोगे।"[३९] भगवान् के द्वारा अपना भविष्य जानकर वासुदेव कृष्ण धर्म की ओर और भी अधिक प्रवृत्त होते हैं और सम्पूर्ण जनता को अध्यात्म पथ पर चलने की प्रेरणा देते हैं।

(३) करुणा-पुरुष - कृष्ण वासुदेव अत्यन्त दयालु थे। उनकी सहृदयता के उदाहरण आगमों में अनेकशः प्राप्त होते हैं। अन्तकृद्दशांगसूत्र के अनुसार एक बार अर्हत अरिष्टनेमिनाथ को वन्दन करने जाते हुए कृष्ण वासुदेव एक जरा से जर्जरित वृद्ध को ईंटों की विशाल राशि में से एक-एक ईंट उठाकर घर के भीतर ले जाते हुए देखते हैं और दयार्द्र होकर स्वयं ईट उठाने लगते हैं। सैकड़ों लोगों ने भी उनका अनुकरण किया और वह ईंटों की विशाल राशि देखते ही देखते बाहर से भीतर पहुंच गई। यह घटना कृष्ण के जीवन की एक आदर्श घटना है तथा यह बोध कराती है कि व्यक्ति पद से बड़ा नहीं होता अपितु गुणों से बड़ा होता है।

इस घटना से यह भी पता चलता है कि भारतीय जनमानस में क्यों कृष्ण वासुदेव का जीवन इतनी श्रद्धा के साथ अंकित है। वस्तुतः वे सच्चे प्रजावत्सल थे। वे चाहते तो सेवकों से कहकर ईंटों की राशि को भीतर पहुंचवा सकते थे, किन्तु तब वह घटना इतनी आदर्श एवं प्रेरणादायी नहीं हो पाती।

(४) सच्चे हितैषी - कृष्ण वासुदेव सच्चे हितैषी थे। जब उन्हें पता चला कि द्वारिका का विनाश अवश्यंभावी है तो वे निराश नहीं हुए अपितु सम्पूर्ण नगरी में घोषणा करवायी कि जीवन में एकमात्र सच्चा सहारा धर्म का है, वही हमें त्राण और आनन्द दे सकता है अतएव जो भी कोई भगवान् अरिष्टनेमि के पास दीक्षित होना चाहता है वह प्रसन्नता के साथ तैयार हो जाए मैं स्वयं उसका दीक्षोत्सव आयोजित करूंगा। इतना ही नहीं उनके पीछे स्थित परिवारजनों का भी यथायोग्य आजीविका देकर भरपूर पालन-पोषण करूंगा।[४१] इस उदाहरण के द्वारा कृष्ण वासुदेव की अगाध धर्मश्रद्धा और प्रजाहितैषी की दिव्यता को समझा जा सकता है। वस्तुतः सच्चा हितैषी वही है जो हमें धर्म के मार्ग पर लगाए। जैन आगमों में मातृ-पितृ-ऋण से मुक्त होने का

उपाय भी यही बताया गया है,'जो पुत्र अपने माता-पिता को धर्म-पथ पर चलाता है वह मातृ-पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है'। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण वासुदेव वास्तव में प्रजाहितैषी थे।

(५) मातृभक्त- कृष्ण वासुदेव माता-पिता का अत्यन्त आदर करते थे। वे त्रिखण्ड के अधिपति होकर भी प्रतिदिन माता को प्रणाम करने के बाद ही अन्य कार्य किया करते थे। एक बार जब वे माता देवकी को वन्दन करने पहुंचे तो देखा कि माता चिन्तामग्न है। माँ की परेशानी का कारण था सात पुत्रों को जन्म देकर भी मैं कभी माँ के कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकी अर्थात् एक भी पुत्र का लालन-पालन अपने हाथों से नहीं कर पायी। इस बात को जानने के तुरन्त बाद कृष्ण वासुदेव माँ को आश्वासन देते हुए कहते हैं- हे माते! आप भग्न-हृदया न हों, मैं ऐसा प्रयास करूंगा कि आपकी मनोकामना पूर्ण हो जाए और वे समाधान प्राप्त करके ही लौटते हैं। लौटकर माता को प्रसन्नता प्रदान करते हुए कहते हैं– हे माँ! आपकी इच्छानुरूप मेरा लघुभ्राता होगा।[४२] इस सूचना से माता देवकी को अत्यन्त प्रसन्नता होती है। इस प्रकार वे सोलह हजार राजाओं के राजा होकर भी माता की इच्छापूर्ति के लिए सर्वप्रथम प्रवृत्त होते थे, अत: वे सच्चे मातृभक्त थे।

(६) न्याय पालक- कृष्ण वासुदेव सच्चे न्याय पालक थे। वे अन्याय को कदापि सहन नहीं करते थे। स्वयं न्याय के मार्ग पर चलना तथा औरों को भी प्रेरित करना उनकी पहचान थी। प्रस्तुत आगम में एक प्रसंग है[४३]- सोमिल ने प्रतिशोध वश कृष्ण के लघुभ्राता गजसुकुमाल मुनि की हत्या कर दी'। इसका पता चलने पर उनका क्रोधित होना स्वाभाविक था। वे सोमिल को मृत्यु दण्ड दे पाते उससे पूर्व ही भय के कारण हृदय-गति रुकने से सोमिल की मृत्यु हो जाती है। कृष्ण वासुदेव सेवकों को आदेश देते हैं कि इस अधर्मात्मा के पैरों में रस्सी बांधकर खींचते हुए पूरे नगर में घुमाओं और घोषणा करो, जो कोई भी व्यक्ति किसी मुनि आदि के साथ ऐसा व्यवहार करेगा उसे इसी तरह से मृत्युदण्ड दिया जाएगा फिर उस सम्पूर्ण मार्ग को जल से प्रक्षालित करो ताकि इसके गन्दे परमाणु खत्म हो जाएँ।[४४] इस प्रसंग में वे एक उत्कृष्ट न्यायी राजा के रूप में सामने आते हैं।

(७) कषायविजेता- कृष्ण वासुदेव की एक विशेषता यह भी थी कि वे कषायविजेता थे। जब पाण्डुमथुरा की ओर जाते समय कोशाम्रवन में अनजाने में ही जराकुमार के हाथों घायल होकर मरणासन्न हो जाते हैं, तब वे जराकुमार को कहते हैं- "बलराम ने यदि तुम्हें देख लिया तो वे तुम्हें जीवित नहीं छोड़ेंगे अत:

भागजाओ'', और अपने मृत्युदाता के प्राण बचाते हैं। इस घटना से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वे सचमुच में कषायविजेता थे।

(८) धर्म-प्रभावक - वे कुशल धर्म प्रभावक थे। उनकी प्रभावना का ही परिणाम था कि पद्मावती, गौरी आदि पटरानियों के अतिरिक्त अनेक लोगों ने अर्हत अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण करके आत्म-कल्याण किया था।[४५] इतना ही नहीं वे द्वारिका नगरी के विनाश का समाचार प्राप्त करके अपनी जनता को सन्यास-धर्म को स्वीकार कर आत्म-कल्याण के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं और पीछे रहे हुए पारिवारिक जनों की सम्पूर्ण व्यवस्था करवाते हैं।

इन सभी उदाहरणों से वासुदेव श्रीकृष्ण का एक विशिष्ट धर्मप्रभावक स्वरूप सामने आता है। इस प्रकार प्रस्तुत आगम में वासुदेव श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व के विविध वैशिष्ट्यों का विवेचन हुआ है ।

(५) प्रश्नव्याकरण सूत्र - प्रश्नव्याकरण सूत्र दसवां अंग आगम है। इसके प्रथम श्रुतस्कंध के चतुर्थ आस्रवद्वार में कृष्ण वासुदेव को रुक्मिणी और पद्मावती के विवाह के निमित्त जो युद्ध करने पड़े उनका वर्णन करते हुए कृष्ण को अतिबली कहा गया है[४६] तथा उन्हें अर्धचक्रवर्ती राजा बताते हुए उनकी रानियों, पुत्रों और परिजनों का वर्णन किया गया है। कृष्ण को चारणमूल, रिष्टबैल तथा काली नामक सर्प का हन्ता, यमलार्जुन के नाशक, महाशकुनि और पूतना के रिपु, कंसमर्दक, जरासंध नाशक[४७] इत्यादि रूप से वर्णन करते हुए उनकी वीरता को दर्शाया गया है। इस प्रकार इस आगम में मुख्यरूपेण उनकी वीरता का परिचय गुम्फित हुआ है।

इन अंगों के अतिरिक्त प्रथम मूल आगम- उत्तराध्ययन सूत्र के २२वें अध्याय, चतुर्थ उपांग - 'प्रज्ञापना सूत्र' तथा अष्टम उपांग 'निरयावलिका सूत्र' में भी कृष्ण वासुदेव की विशेषताओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

जैनागमों में उनका स्वरूप कुशल राजा, कुशल राजनीतिज्ञ, कुशल नेता, धर्मात्मा, मातृ-पितृ भक्त, प्रजावत्सल, कुशल मार्गदशक आदि रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। इस प्रकार कृष्ण वासुदेव के विशद जीवन का प्रभाव बौद्ध परम्परा में अपेक्षाकृत कम और जैन तथा वैदिक परम्परा में भरपूर पड़ा है।

इस आलेख का प्रतिपाद्य यही है कि एक व्यक्ति साधना के बल पर इतना उन्नत हो सकता है कि उसका जीवन सदियों तक दूसरों के लिए पथ-प्रदर्शक एवं प्रेरणा-दायी बन जाता है । जैन परम्परा में कृष्ण सामान्य व्यक्ति की ही भाँति अपने सद्गुणों से जीवन का विकास करते हैं। जैन परम्परा ईश्वर या तीर्थंकर में अचिन्त्य बल का होना

स्वीकार करती है किन्तु वह बल उस आत्मा के क्रमिक साधना का ही सुपरिणाम है। प्रत्येक आत्मा अपने ढंग से अपने जीवन का निर्माण कर सकती है इस अर्थ में प्रत्येक आत्मा सृष्टिकर्त्ता है।

इस प्रकार जैन परम्परा में कृष्ण वैदिक परम्परा की तरह अवतारी पुरुष नहीं हैं जो कि पूर्वनिर्धारित घटनाओं की मात्र लीला करते हों। यहाँ तो वे साधारण व्यक्ति की ही तरह यथार्थ के धरातल पर जीवन का परिष्कार करके महान बनते हुए पाए जाते हैं। जिससे सहज ही यह बोध प्राप्त हो जाता है कि 'प्रत्येक आत्मा अपने सत्पुरुषार्थ और पराक्रम से परमात्म अवस्था को उपलब्ध कर सकती है'। भगवान महावीर ने कहा भी है अप्पा सो परमप्पा अर्थात् आत्मा ही अपने प्रयास से परमात्मा बनती है।

जीवन-विकास की चरम-स्थिति का नाम ही परमात्मावस्था है और वही विकास हम सबका अंतिम लक्ष्य है। उस लक्ष्य की प्राप्ति में कृष्ण जैसे महापुरुषों के जीवन की घटनाएँ एवं प्रेरणाएँ पाथेय सिद्ध होती हैं। इस प्रकार कृष्ण वासुदेव के जीवन से विभिन्न प्रकार की शिक्षाओं को ग्रहणकर अपना पूर्ण आत्म-विकास किया जा सकता है।

सन्दर्भ :

१. महाभारत, शान्ति पर्व, अ. ४८ तथा श्रीमद्भागवद्गीता।
२. घटजातक, संख्या ४५४।
३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ८/७/४४६-४४५७।
४. अन्तकृद्दशांगसूत्र, वर्ग ५, अ.१।
५. अन्तकृद्दशांगसूत्र, पृ.२४।
६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ८/७/४६६/-४५७।
७. ऋग्वेद, आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत, श्रीमद्भागवद् गीता, पुराण,इत्यादि।
८. ऋग्वेद, ८/८५, १-९, १०, ४२-४४, १/११६,२३, ८/९६, १३-१५ इत्यादि।
९. ऐतरेय आरण्यक, ३/२/६।
१०. तैत्तिरीय आरण्यक, १०/१/६।
११. कौशीतकि ब्राह्मण, ३०/९/७, छांदोग्योपनिषद्, ३/१७,४-६।
१२. महाभारत, शांतिपर्व, ४३/५।
१३. श्रीमद्भागवत्, १०/२/२५-३१, विष्णुपुराण, ५/२१।
१४. श्रीमद्भागवत्, दशमस्कन्ध, ८/४५/३/१३,२४/२५ आदि।
१५. उत्तराध्ययनसूत्र, २२/१,२,३,४,५।

१६. जैन साहित्य में कृष्ण चरित, पृ. ८।
१७. समवाओ, अंगसुत्ताणि (भाग-१) पृ. ९४८-९४९ तथा समवायांगसूत्र, मधुकर मुनि, सूत्र सं. ६५८, पृ. २३६।
१८. समवाओ, अंगसुत्ताणि (भाग-१), पृ.९४५ तथा समवायांगसूत्र, मधुकर मुनि, सूत्र सं. ६५४, पृ. २३६।
१९. अन्तकृद्दशांगसूत्र, वर्ग ५, अ.१, पृ. २३०।
२०. जैन साहित्य में कृष्ण चरित, पृ. ८।
२१. अन्तकृद्दशांगसूत्र वर्ग ५, अ. १
२२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र।
२३. अन्तकृद्दशांगसूत्र, वर्ग ३, अ. ८।
२४. नन्दीसूत्र, आ. आत्माराम जी म., आत्माराम जैन प्रकाशन समिति लुधियाना, पृ. २६१।
२५. अन्तकृद्दशांगसूत्र, वर्ग ५, अ. १, पृ. २३०।
२६. भगवान् अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण, पृ. १६२।
२७. वही, पृ. १६३।
२८. ठाणंगसुत्ते, अट्ठमं ठाणं, श्री महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई, पृ. २२५।
२९. भरहेवएसु णं वासेसु एगमेसाए उस्सप्पिणीए एगमेसाए ओसप्पिणीए चउप्पण्णं-२उत्तमपुरिसा उप्पज्जिंसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्सांति वा, तजहा चउवीसं तित्थकरा, बारस चक्कवट्टी, णव बलदेवा, णव वासुदेवा। इत्यादि। समावायांगसुत्तें, २४ वां समवाय, श्री महावीर जैन विद्यालय मुम्बई, पृ. ४०४।
३०. उत्तराध्ययनसूत्र, २२/१, २, ३, ४, ५।
३१. थवच्चापुत्तं एवं वयासी-मा णं तुमं देवाणुप्पिया! मुंडे भवित्ता पव्वयाहि, भुंजाहि णं देवाणुप्पिया! विपुले माणुस्सए कामभोगे मम बाहुच्छाय-परिग्गहिए। केवलं देवाणुप्पियस्स अहं नो संचाएमि वाउकायं उवरिमेणं गच्छमाणं निवारित्तए। अण्णो णं देवाणुप्पियस्स जं किंचि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएइ, तं सव्वं निवारेमि।.... जइ णं देवाणुप्पिया मम जीवियंतकरं मच्चुं एज्जमाणं निवारेसि जरं वा... निवारेसि, तए णं अहं तव बाहुच्छाय-परिग्गहिए विहरामि। - न्यायाधम्मकहाओ, ५/२२,२३, पृ.१३६।
३२. वही, १६/२८३, पृ. ३५१।
३३. एवं खलु सामी! तुब्भं पिउच्छा कोंती देवी हत्थिणाउराओ नयराओ इहं हव्वमागया तुब्भं दंसणं कंखई- वही, १६/२१६, पृ. ३४०।
३४. अन्तकृद्दशांगसूत्र, आ. आत्माराम जी म., पृ. २३०।
३५. जैन तत्त्व-प्रकाश, श्री अमोलक ऋषि जी।
३६. नायाधम्मकहाओ, ५/१२, १३, १४, १५, १६, १७, पृ. १३५।

३७. इमीसे णं भंते! बारवईए नयरीए किंमूलाए विणासे भविस्सइ एवं खलु कण्हा इमीसे बारवईए सुरग्गिदीवायणमूलाए विणासे भविस्सइ। -, अंतगडदसाओ, ५/९, १०,- अंगसुत्ताणि ३, पृ. ५७३।

३८. अहं णं भंते! इतो कालमासे कालं किच्चा कहिं गमिस्सामि? कहिं उववज्जिस्सामि? एवं खलु कण्हा! तुमं बारवईए नयरीए सुरग्गिदीवायणकोवनिदड्ढाए अम्मापिइ-नियग-विप्पहूणे रामेण बलदेवेण सद्धिं दाहिणवेयालिं अभिमुहे जुहिठिल्लपामोक्खाणं पंचण्हं पंडवाणं पंडुरायपुत्ताणं पासं पंडुमहुरं संपत्थिए कोसंबवणकाणणे नग्गोहवरपायवस्स पीयवत्थ-पच्छाइय-सरीरे जराकुमारेणं तिक्खेणं कोदंड-विप्पमुक्केणं उसुणा वामे पादे विद्धे समाणे कालमासे कालं किच्चा तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए उज्जलिए नरए नेरइयत्ताए उववज्जिहिसि।- , अंतगडदसाओ, ५/१५,१६, वही, पृ. ५७४।

३९. मा णं तुमं देवाणुप्पिया! ओहयणसंकप्पे जाव झियाह। एवं खलु तुमं देवाणुप्पिया! तच्चाओं पुढवीओ...उव्वट्टित्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमेसाए उस्सप्पिणीए पंडेसु जणवएसु सयदुवारे नगरे बारसमे अमम नामं अरहा भविस्ससि। तत्थ तुमं..... परिनिव्वाहिसि सव्वदुक्खाणं अंतं काहिसि।- , अंतगडदसाओ, ५/१८, वही, पृ. ५७४।

४०. तते णं से कण्हे वासुदेवे बारवतीए नयरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छमाणे एकं पुरिसं पासति, जुन्न-जरा-जज्जरिय देहं जाव किलंतं महति महालयाओ इट्टग-रासीआ एंगमेगं इट्टगं गहाय-बहिया-रत्थापहातो-अंतोगिहं अणुप्पविसमाणं पासति। तए णं से कण्हे वासुदेव पुरिसस्स अणुकंपणट्ठयाए हत्थिखंधवरगते चेव एगं इट्टगं गेण्हति, गेण्हित्ता बहिया रत्थापहाओ अंतोगिहं अणुप्पवेसेति। तते णं.....अणुप्पवेसिए। -अन्तकृद्दशांगसूत्र, आ. आत्माराम जी म., पृ. १७४।

४१. एवं खलु देवाणुप्पिया! बारवतीए नयरीए नवजोयण वित्थिण्णाए जाव देवलोगभूयाए, सुरग्गिदीवायणमूलए विणासं भविस्सइ। तं जो णं देवाणुप्पिया! इच्छइ बारवतीए नयरीए राया वा, जुवराया वा, ईसरे, तलवरे, माडंबिये, कोडुंबिये, इब्भे, सेट्ठि वा, देवी वा, कुमारो वा, कुमारी वा अरहतो अरिट्ठनेमिस्स अंतिए मुंडे जाव पव्वइत्तए, तंणं कण्हे वासुदवे विसज्जति। पच्छातुरस्सविय से अहापवित्तं वित्तिं अणुजाणइ, महया इड्ढिसक्कारसमुदएण य से निक्खमणं करेइ। -अन्तकृद्दशांग सूत्र, वही, पृ. २४७।

४२. हरिणेगमेसिस्स अट्ठभत्तं पग्रण्हछ, जाव अंजलिं कट्टु एवं वयासी इच्छामि णं देवाणुप्पिया सहोदरं कणीयसं भाउयं विदिण्णं। तत...वायासी होहिति णं अम्मो मम सहोदरे कणीयसे भाउए त्ति कट्टु देवतिदेविं ताहिं इट्ठाहिं जाव आसासेइ। -अन्तकृद्दशांगसूत्र, वही, पृ. १९७।

४३. ततेणं से सोमिले कालं करेइ एवं वयासी- एस णं देवाणुप्पिया से सोमिले पाणेहिं कड्ढावेइ, भूमिं पाणिएणं अब्भोक्खावेइ, अब्भोक्खावेत्ता बणुपविट्ठे। -अन्तकृद्दशांग सूत्र, आ. आत्माराम जी म., पृ. १९७।

४४. अन्तकृद्दशांगसूत्र, पंचम वर्ग, प्रथम अध्ययन, व्या. आत्माराम जी, पृ.२४७।

४५. भुज्जो-भुज्जो बलदेव-वासुदेवा य पवरपुरिसा महाबलपरक्कमा महाधणुवियट्टगा महासत्तसागरा दुद्धरा धणुद्धरा णरवसहा। -प्रश्नव्याकरण सूत्र, सम्पा. प्रवर्तक अमर मुनि जी म., पद्म प्रकाशन, नरेला मण्डी, दिल्ली, २००८, पृ. १९३।

४६. मेहुणसण्णसंपगिद्ध य मोहभरिया सत्थेहिं हणंति एक्कमेक्कं...विउलमोहामिभूयसण्णा तथा मेहुणंमूलं य सूव्वए... मोहवससण्णिविट्ठा। इत्यादि। -वही, पृ.२१६,२१९।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

१. अंगसुत्ताणि, भाग-१, ३, सम्पा. आ. महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ १९९२।

२. अग्निपुराण, अनु. तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १९८५।

३. अन्तकृद्दशांगसूत्र, आ. आत्माराम जी म., आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, सम्वत् १९७०।

४. अन्तकृद्दशांगसूत्र, सम्पा. युवाचार्य मधुकर मुनि,आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर तृ. सं. २०००।

५. उत्तराध्ययनसूत्र, सम्पा. डॉ. राजेन्द्र मुनि, युनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली,१९९७।

६. ऋग्वेद, सम्पा. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद २००८।

७. ऐतरेय आरण्यक, सम्पा. राजेन्द्र लाल मित्र, कोलकाता, १९८३।

८. कूर्मपुराण, सम्पा. रामचन्द्र वर्मा, धर्मग्रंथ प्रकाशन, दिल्ली १९८३।

९. गरुड़ पुराण, सम्पा., चन्द्रशेखर शास्त्री, भार्गव बुक डिपो, चौक, वाराणसी।

१०. छान्दोग्योपनिषद्, सम्पा. रंगनाथ कट्टि, शंकरनारायण अडिग, पूर्ण प्रज्ञ संशोधन मन्दिर, बैंगलौर २००४।

११. ठाणं और समवायंगसुत्तं, सम्पा. मुनि जम्बूविजयजी, महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई, १९८५।

१२. देवीपुराण, सम्पा. देवनन्दप्रसाद यादव, लालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली १९७६।

१३. नायाधम्मकहाओ, सम्पा. प्रवर्तक श्री अमर मुनि जी म.,पद्म प्रकाशन, नरेला मण्डी, दिल्ली, २००८।

१४. नारदपुराण, अनु. तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १९९०।

१५. निरयावलिकासूत्रम् ,सम्पा. श्री घासीलाल जी म., स्थानकवासी जैन कार्यालय, पंचभाइनी पोल अहमदाबाद, १९४८।

१६. पद्मपुराण, कृष्णद्वैपायन, कलकत्ता १९५७।
१७. पन्नवणासुत्त, सम्पा., मुनि पुण्यविजयजी,महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई १९६९।
१८. प्रश्नव्याकरणसूत्र, सम्पा. प्रवर्तक श्री अमर मुनि जी म., पद्म प्रकाशन, नरेला मण्डी, दिल्ली २००८।
१९. भगवद्गीता, सम्पा. डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९०।
२०. महाभारत, पं. रामनारायणदत्त शास्त्री, गीता प्रेस, गोरखपुर १९९४।
२१. वायुपुराण, कृष्ण द्वैपायन, कलकत्ता १९५९।
२२. विष्णुपुराण, सम्पा. पं. थानेशचन्द्र उप्रेति, परिमल प्रकाशन, दिल्ली १९८६।
२३. श्रीभागवत महापुराण, गोविन्द भवन कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर १९९९।
२४. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि शास्त्री,भ. अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण: एक अनुशीलन, तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर १९७१।
२५. शास्त्री,राजेन्द्र मुनि, जैन साहित्य में श्रीकृष्णचरित, तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर १९९१।
२६. सिंह, डॉ. शंभूनाथ, जैन साहित्य में कृष्ण का सवरूप, **श्रमण**, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, जनवरी-मार्च २००९।
२७. हरिवंशपुराण, सम्पा. डॉ. पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली१९७८।

****

जैनदर्शन में संशय का स्वरूप

प्रो. वीरसागर जैन

[ज्ञान के अनेक रूप होते हैं- जिज्ञासा, प्रश्न, संशय आदि। जैन परम्परा में संशय के समानार्थक शब्द -विपर्यय, अध्यवसाय, विभ्रम, मोह, अव्युत्पत्ति और समारोप शब्दों का प्रयोग हुआ है और इसे ज्ञानात्मक और श्रद्धानात्मक दो प्रकार का माना गया है। श्रद्धानात्मक संशय वस्तुत: मिथ्यादर्शन है और पाँच प्रकार का है। सभी दर्शनों में संशय का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। तत्त्वोपप्लववादी संशय का अस्तित्व नहीं मानते। आचार्य प्रभाचन्द्र विरचित प्रमेयकमलमार्तण्ड के आधार पर उनके इस मत का निराकरण इस लेख का प्रमुख प्रतिपाद्य है। जैनाचार्यों द्वारा दिये गये संशय के लक्षण आदि का भी इस लेख में विवेचन है।] **-सम्पादक**

संशय दर्शनशास्त्र का एक प्रमुख विषय है। भारतीय एवं पाश्चात्य- सभी दर्शनों में **संशय के सम्बन्ध में** सूक्ष्म चिन्तन हुआ है। यहाँ संशय के सम्बन्ध में जैनदर्शन की अवधारणा को प्रस्तुत करने का संक्षिप्त प्रयास किया गया है।

संशय के सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने सर्वप्रथम तो उन तत्त्वोपप्लववादियों का निराकरण किया है जो संशय की सत्ता ही नहीं मानते, उसका सर्वथा उच्छेद करते हैं। इस प्रकरण का सुन्दर एवं विस्तृत विवेचन आचार्य प्रभाचन्द्र के 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक सुप्रसिद्ध न्याय-ग्रन्थ में उपलब्ध होता है जिसका सारांश संक्षेप में इस प्रकार है-

"**पूर्वपक्ष-** संशयादिज्ञान कोई है ही नहीं, फिर आप जैन 'व्यवसायात्मक विशेषण द्वारा किसका खण्डन करेंगे? आप यह बताइये कि संशय ज्ञान में क्या झलकता है- धर्म या धर्मी? यदि धर्मी झलकता है तो वह सत्य है या असत्य? यदि सत्य है तो उस सत्य धर्मी को ग्रहण करने वाले ज्ञान में संशयपना कैसे हुआ? उसने तो सत्य वस्तु को जाना है, जैसे कि हाथ में रखी हुई वस्तु का ज्ञान सत्य होता है। यदि उस धर्मी को असत्य मानो तो असत् जानने वाले केशोण्डुक ज्ञान की तरह संशय भ्रांतिरूप हुआ? यदि दूसरा पक्ष माना जाय कि संशयज्ञान में धर्म झलकता है, तब प्रश्न होता है कि वह धर्म क्या पुरुषत्वरूप है अथवा स्थाणुत्वरूप है अथवा उभयरूप है? यदि स्थाणुत्वरूप है तो पुन: प्रश्न उठेगा कि सत् है या असत् दोनों में पूर्वोक्त दोष आयेंगे। पुरुषत्व धर्म में तथा उभयरूप धर्म में भी वही दोष आते हैं? अर्थात् दोनों में पूर्वोक्त दोष आयेंगे। पुरुषत्व धर्म में तथा उभयरूप धर्म में भी वही दोष आते

हैं, अर्थात् संशयज्ञान में स्थाणुत्व, पुरुषत्व अथवा उभयरूपत्व झलके, उनमें हम वही बात पूछेंगे कि वह स्थाणुत्वादि सत् है या असत्? यदि सत् है तो सत् वस्तु को बतलाने वाला ज्ञान झूठ कैसे? और यदि वह स्थाणुत्व धर्म असत् है तो वह ज्ञान भ्रांतिरूप ही रहा? यदि कहा जाय कि एक धर्म (स्थाणुत्व) सत् है और एक (पुरुषत्व) असत् है, तब वह एक ही ज्ञान भ्रांत तथा अभ्रांत दो रूप हुआ? यदि कहा जाय कि संशय में संदिग्ध पदार्थ ही झलकता है तो उस पक्ष में भी वह है या नहीं इत्यादि प्रश्न और वही दोष आते हैं इसलिए संशय नाम का कोई ज्ञान नहीं है।

उत्तरपक्ष (जैन)- तत्त्वोपप्लववादी का यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि संशय तो प्रत्येक प्राणी को चलित प्रतिभास रूप से अपने आप ही स्पष्ट समझ में आता है। संशय का विषय चाहे धर्म हो चाहे धर्मी, सत् हो चाहे असत् इतने विकल्पों से संशय का बालाग्र भी खण्डित नहीं कर सकते, क्योंकि इस प्रकार आप प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु का भी अभाव करने लगोगे तो सुख-दुःखादि का भी अभाव करना चाहिए? आश्चर्य की बात है कि आप स्वयं ही इस संशय का विषय धर्म है या धर्मी, सत् है या असत् इस प्रकार के संशयरूपी झूले में झूल रहे हो और फिर भी उसी का निराकरण करते हो, सो अस्वस्थ हो क्या?

किञ्च - आप उत्पादक कारण का अभाव होने से, संशय को नहीं मानते हो या उसमें असाधारण रूप का अभाव होने से अथवा विषय का अभाव होने से संशय को नहीं मानते हो? प्रथम पक्ष अयुक्त है, देखो! संशय का उत्पादक कारण मौजूद है। किस कारण से संशय पैदा होता है सो बताते हैं-ऐसा व्यक्ति जिसने स्थाणुत्व और पुरुषत्व के संस्कार को प्राप्त किया है जब असमान विशेष धर्म जो मस्तक-हस्तादिक हैं तथा वक्र-कोटरत्वादि हैं उनका प्रत्यक्ष तो नहीं कर रहा और समान धर्म जो ऊर्ध्वता आदि हैं उनको देख रहा है तब उस व्यक्ति को अंतरंग में मिथ्यात्व के उदय होने पर संशय ज्ञान पैदा होता है। संशय के असाधारण स्वरूप का अभाव भी नहीं है, देखो! चलित प्रतिभास होना यही संशय का असाधारण स्वरूप है। विषय का अभाव भी दूर से ही समाप्त होता है- स्थाणुत्व-विशिष्ट से अथवा पुरुष-विशिष्ट से जिसका अवधारण नहीं हुआ है ऐसा ऊर्ध्वता-सामान्य ही संशय का विषय माना गया है और वह विद्यमान ही है।"

इस सम्बन्ध में आचार्य प्रभाचन्द्र के अपने मूल शब्द भी द्रष्टव्य हैं जहाँ उन्होंने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहा है कि संशय सर्वजनसुलभ एवं स्वात्मसंवेद्य है, उसका बाल की नोक के बराबर भी खण्डन किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता-

"संशय: सर्वप्राणिनां चलितप्रतिपत्त्यात्मकत्वेन स्वात्मसंवेद्य:। स: धर्मिविषयो वस्तु धर्मविषयो वा तात्त्विकातात्त्विककार्यविषयो वा किमेभिर्विकल्पैरस्य बालाग्रमपि खण्डयितुं शक्यते? प्रत्यक्षसिद्धस्याप्यर्थस्वरूपस्यापह्नवे सुखदु:खादेरप्यापह्नव: स्यात्।।"[१]

इस प्रकार संशय की सत्ता सिद्ध करने के बाद जैनाचार्यों ने संशय के स्वरूप पर विचार किया है। जैनाचार्यों के अनुसार संशय दो प्रकार का होता है- १. ज्ञानात्मक और २. श्रद्धानात्मक। ज्ञानात्मक संशय को ज्ञान का दोष या मिथ्याज्ञान भी कहते हैं और श्रद्धानात्मक संशय को श्रद्धा का दोष या मिथ्यादर्शन भी कहते हैं।

दर्शन-जगत् में मुख्यतया ज्ञानात्मक संशय की ही चर्चा होती है। ऊपर 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में भी मुख्यत: ज्ञानात्मक संशय की ही चर्चा है। जैन-न्याय-ग्रन्थों में सर्वप्रथम प्रमाण-विचार करते हुए सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण का समीचीन लक्षण माना गया है और कहा गया है 'सम्यग्ज्ञान' में 'सम्यक्' पद का प्रयोग संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रूप मिथ्याज्ञानों की निवृत्ति के लिए किया गया है। यथा -
"अत्र सम्यक्पदं संशयविपर्ययानध्यवसायनिरासाय क्रियते अप्रमाणत्वादेतेषां ज्ञानानामिति।"[२]

इसके बाद वहाँ संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय - इन तीनों मिथ्याज्ञानों का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है- "विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। स्थाणुपुरुषसाधारणोद्धृतादिधर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य वक्रकोटरशिरपाण्यादेः साधकप्रमाणभावादनेककोट्यवलम्बित्वं ज्ञानस्य। विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्यय: यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानम्। अत्रापि सादृश्यादिनिमित्तवशाच्छुक्तिविपरीते रजते निश्चय:। किमित्यालोचनमात्रानध्यवसायः यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम् । इदं हि नानाकोट्यवलम्बनाभावान्न संशय:। विपरीतैककोटिनिश्चयाभावान्न विपर्यय इति पृथगेव। एतानि च स्वविषयप्रमितिजनकत्वाभावादप्रमाणानि ज्ञानानि भवन्ति, सम्यग्ज्ञानानि तु न भवन्तीति सम्यक्पदेन व्युदस्यन्ते।"[३]

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय को कहीं-कहीं संशय, विभ्रम, मोह शब्दों से भी कहा है, यथा "संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे"।[४] 'मोह' को कहीं-कहीं 'विमोह' शब्द से भी कहा गया है। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने विमोह या अनध्यवसाय को अव्युत्पत्ति शब्द से भी कहा है।[५] आचार्य माणिक्यनन्दी को भी अनध्यवसाय के लिए अव्युत्पत्ति शब्द इष्ट रहा है। यथा-"संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां"[६] कहने का तात्पर्य है कि मोह, विमोह, अव्युत्पत्ति और अनध्यवसाय- ये सभी पर्यायवाची हैं।

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय- इन तीनों को जैन ग्रन्थों में 'समारोप'-शब्द से भी जाना जाता है जैसा कि 'परीक्षामुखसूत्र' के निम्नलिखित सूत्र में कहा गया है- "दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्।"[७] अर्थात् देखा-जाना हुआ अर्थ भी यदि 'समारोप' लग जाए तो पुनः अपूर्वार्थ हो जाता है। यहाँ समारोप शब्द का अर्थ संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय है। इसप्रकार संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय की चर्चा प्रायः सर्वत्र एक साथ ही उपलब्ध होती है, परन्तु यहाँ हमारा प्रयोजन मात्र संशय का ही स्वरूप स्पष्ट करना है, विपर्यय और अनध्यवसाय की चर्चा पृथक् रूप से फिर कभी करेंगे अथवा उसे प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला आदि ग्रन्थों से देखना चाहिए। संशय का एक लक्षण 'न्यायदीपिका' ग्रन्थ से ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। इसी प्रकार के लक्षण अन्य भी अनेक जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं जिनमें से कतिपय, प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं-

१ अनेकाथाऽनिश्चिताऽपर्युदासात्मकः संशयः तद्विपरीतोऽवग्रहः।[८]
२ अनवस्थितकोटीनामेकत्र परिकल्पनाम्। शुक्ति वा रजतं किं वेत्येव संशयलक्षणम्।[९]
३ संशयो नामानवधारितार्थज्ञानम्।[१०]
४ एकधार्मिकविरुद्धनानाधर्मप्रकारक ज्ञानं हि संशयः।[११]

ध्यातव्य है कि प्रायः लोग ऐसा कहते हैं कि संशय दो कोटियों को स्पर्श करने वाला होता है परन्तु यहाँ दो या उभय पद का प्रयोग नहीं किया गया है बल्कि अनेक पद का प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि संशय में दो ही कोटियों का स्पर्श होना आवश्यक नहीं है, दो का भी हो सकता है और दो से अधिक का भी हो सकता है।

इसी प्रकार कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि इन कोटियों में से एक सत्य होती है और एक असत्य। परन्तु यहाँ ऐसा भी कुछ नहीं कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि संशयज्ञान की ये कोटियाँ सब की सब असत्य भी हो सकती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उनमें एक सत्य ही हो। यह बात उदाहरण से भी सहज समझ में आती है यथा-किसी को संशय होता है कि यह सीप है या चाँदी। यहाँ यह हो सकता है कि वह वस्तु दोनों ही न हो, एल्युमिनियम, पन्नी आदि कुछ और ही चमकीली वस्तु हो। किन्तु यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि संशयज्ञान की सभी कोटियाँ असत्य होते हुए भी सर्वथा असत्य (असत्) नहीं होतीं, उन-उन अर्थों की लोक में सत्ता अवश्य होता है, सर्वथा असत् वस्तु का संशय नहीं होता। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने संशय के द्वारा भी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की है, यथा-सत्यपि संशये तदालम्बनादात्मसिद्धिः। न हि अवस्तुविषयः संशयो भवति।[१२] इस प्रकार संशयज्ञान मिथ्या होते हुए भी वस्तु की सत्ता को सिद्ध करता है- यह बड़ी अद्भुत बात है।

संशय के सम्बन्ध में एक अन्य भ्रान्ति यह है कि कुछ लोग जिज्ञासा या प्रश्न को भी संशय समझ लेते हैं, परन्तु वास्तव में देखा जाए तो जिज्ञासा संशय नहीं है। जिज्ञासा और संशय में बहुत अन्तर है। जिज्ञासा में जानने की इच्छा है, प्रश्न का उत्तर बताने का निवेदन है, परन्तु संशय में ऐसी कोई बात नहीं है। दरअसल ज्ञान के अनेक रूप होते हैं- जिज्ञासा, प्रश्न, संशय आदि। हमें इन सब में विद्यमान सूक्ष्म अन्तर को समझना चाहिए।

इसी प्रकार कुछ लोग अवग्रह ज्ञान को भी जो कि मतिज्ञान का एक (प्रथम) भेद है, संशय समझ लेते हैं, परन्तु संशय और अवग्रह ज्ञान में भी बड़ा अन्तर है, अवग्रह ज्ञान संशय ज्ञान नहीं है। जैसा कि आचार्य अभिनव धर्मभूषण यति ने भी स्पष्ट कहा है- तत्रेन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनान्तरभावी सत्ताऽवान्तर जातिविशिष्टवस्तुग्राही ज्ञानविशेषोऽवग्रहः - यथाऽयं पुरुष इति। नाऽयं संशयः, विषयान्तरव्युदासेन स्वविषयनिश्चयात्मकत्वात्। तद्विपरीतलक्षणो हि संशयः।[१३] अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के मिलन के तुरन्त बाद होने वाला और सत्तावलोकन के बाद अवान्तर सत्ता को विषय करने वाले ज्ञानविशेष को अवग्रह कहते हैं, जैसे-यह पुरुष है। यह अवग्रह संशय नहीं है, क्योंकि इसमें अन्य विषय नहीं है और विषय का निश्चय है। संशय इससे विपरीत होता है।

१ अनेकार्थाऽनिश्चितापर्युदासात्मकः संशयःततद्विपरीतोऽवग्रहः।[१४]
२ संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः।[१५]
अर्थात् अनेक अर्थों में अनिश्चयरूप संशय होता है, जबकि अवग्रह इससे विपरीत होता है। संशय ही निर्णय-विरोधी होता है, न कि अवग्रह। इस प्रकार संशय के प्रधान भेद ज्ञानात्मक संशय का स्वरूप हुआ।

अब संशय के द्वितीय भेद श्रद्धानात्मक संशय का स्वरूप समझने का प्रयत्न किया जाता है। कहा जा चुका है कि श्रद्धानात्मक संशय श्रद्धा का दोष है जिसे जैन ग्रन्थों में मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन भी कहा जा सकता है। जैनदर्शन के अनुसार मिथ्यात्व पाँच प्रकार का होता है-
१- एकान्तमिथ्यादर्शन
२- विपरीतमिथ्यादर्शन
३- संशयमिथ्यादर्शन
४- वैनयिकमिथ्यादर्शन
५- अज्ञानिकमिथ्यादर्शन

इन पाँचों का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है-

तत्र इदमेव.....हिताहितपरीक्षाविररहोऽज्ञानिकत्वम्।[१६]

अर्थात् यही है या ऐसा ही है- ऐसा धर्म-धर्मी का ऐकान्तिक श्रद्धान एकान्त मिथ्यादर्शन है, जैसे-यह सब पुरुष ही हैं अथवा वस्तु नित्य या अनित्य ही है। साधु परिग्रही होते हैं, केवली कवलाहारी होते हैं, स्त्री को तद्भव-मुक्ति प्राप्त होती है। यह विपरीत मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकता मोक्षमार्ग है या नहीं- ऐसा मानना संशय मिथ्यात्व है। सभी देवों को और सभी धर्मों को समान मानना वैनयिक मिथ्यात्व है। हिताहित का परीक्षण न करना अज्ञान मिथ्यात्व है। इन पाँच प्रकार के मिथ्यादर्शनों में से संशय नामक मिथ्यादर्शन को ही श्रद्धानात्मक संशय कहते हैं। ज्ञानात्मक संशय को मिथ्याज्ञान कहते हैं और श्रद्धानात्मक संशय को मिथ्यादर्शन कहते हैं। विचारणीय है कि ज्ञानात्मक संशय (मिथ्याज्ञान) और श्रद्धानात्मक संशय में मूलभूत अन्तर क्या है?

वस्तुत: बात यह है कि सामान्यत: किसी भी विषय को जानने में जो संशय होता है उसे ज्ञानात्मक संशय कहते हैं किन्तु जब वही संशय किसी मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत विषय के सम्बन्ध में होता है तो उसे श्रद्धानात्मक संशय कहते हैं, क्योंकि उसमें मात्र ज्ञानावरण कर्म का उदय निमित्त नहीं होता, मोहनीय कर्म का उदय भी निमित्त होता है। श्रद्धानात्मक संशय की अवधारणा तो जैनाचार्यों की ही विशिष्ट देन है।

सन्दर्भ :

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, सम्पा. पं. महेन्द्र कुमार शास्त्री, सत्यभामाबाई पाण्डुरङ्ग, द्वि. सं. १९४१ मुम्बई, सूत्र १/३।
२. न्यायदीपिका, संपा. पं. दरबारीलाल जैन कोठिया, बनारस, १९८९- ९०, १/८।
३. वही, १/९।
४. छहढाला, कविवर दौलतराम, अनु. मगनलाल जैन, दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, ४/६।
५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, संपा. विद्यानन्द, पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सोलापुर, १९४९, अध्याय १, सूत्र ११, श्लोक ३५३, ३५५,।
६. परीक्षामुखसूत्रम्, माणिक्यनन्दि, संपा. डॉ. योगेशचन्द्र जैन, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर तृ. सं.२००९, ३/१७।
७. वही, १/५।
८. तत्त्वार्थवार्तिक, आचार्य अकलंक, संपा. प्रो. महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९४३, १/१५/९।

९. मोक्षपंजिका, ५।
१०. सूर्यप्रज्ञप्ति, मलयगिरिवृत्ति, २, पृ. ५।
११. सप्तभङ्गीतरंगिणी, विमलदास, परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, १९७७, पृ. ६।
१२. स्याद्वादमंजरी, मल्लिषेणसूरि, अनु. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, १९९२, १७।
१३. न्यायदीपिका, पूर्वोक्त, २/११।
१४. तत्त्वार्थवार्तिक, पूर्वोक्त, १/१५/९।
१५. वही, १/१५/१०।
१६. सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद, संपा. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली १९९१, ८/१।

****

जैन दार्शनिक साहित्य

डॉ. अशोक कुमार सिंह

[इस लेख में आरम्भ से लेकर २०वीं शती तक जैन दर्शन पर रचित दार्शनिक कृतियों और टीका साहित्य का कालक्रम के अनुसार नाम -निर्देश किया गया है।]
- सम्पादक

जैन आगम साहित्य की वर्णित विषय-वस्तु का प्राचीन वर्गीकरण चार अनुयोगों में किया गया है- द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग। द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा से है। तत्त्वमीमांसा वस्तुत: विश्वव्याख्या का एक प्रयास है। इसमें जगत् के मूलभूत उपादानों तथा उनके कार्यों का विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है। अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य घटक पर आश्रित नहीं रहने वाले तथा कभी भी अपने स्वरूप का त्याग नहीं करने वाले विश्व के मूलभूत घटक द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्यानुयोग इन्हीं मूलभूत घटकों का विवचेन करता है।

जैन आगमों में विश्व के मूलभूत घटक के लिये अस्तिकाय, तत्त्व, द्रव्य अर्थ और पदार्थ शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। भगवतीसूत्र, समवायांग और ऋषिभाषित में अस्तिकाय, स्थानांगसूत्र में अस्तिकाय और द्रव्य के अतिरिक्त अर्थ का प्रयोग इसके लिये किया है। सत् शब्द का प्रयोग आगम युग में द्रव्य के लिये नहीं हुआ है। उमास्वाति ने सत् और द्रव्य को अभिन्न बताया है। (तत्त्वार्थसूत्र, ५,२९)।

सामान्यतया तत्त्व, पदार्थ, अर्थ और द्रव्य शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते हैं परन्तु इनमें तात्पर्य को लेकर भिन्नता पायी जाती है। तत्त्व शब्द सबसे अधिक व्यापक है इसमें पदार्थ और द्रव्य भी समाहित हैं। अर्थ की व्यापकता की दृष्टि से द्रव्य की अपेक्षा पदार्थ और पदार्थ की अपेक्षा तत्त्व अधिक व्यापक है। तत्त्व में पदार्थ और पदार्थ में द्रव्य का समावेश होता है। सत् शब्द इससे भी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। वस्तुत: जो भी अस्तित्ववान् है वह सत् है। जैन दार्शनिक सत् और द्रव्य को अभिन्न अर्थ में सूचित करते हैं- सद् द्रव्यलक्षणं (तत्त्वार्थसूत्र,५,२८)।

ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत पंच ज्ञान, प्रमाण, नय, निक्षेप, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी का विवेचन है। जहाँ तक आगम ग्रन्थों में तत्त्व-मीमांसा के प्रतिपादन का

प्रश्न है सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन, नन्दी और अनुयोगद्वार में मुख्यत: यह प्राप्त होता है। ज्ञान-मीमांसा का प्रतिपादन उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त किसी न किसी रूप में अंग ग्रन्थ सूर्यप्रज्ञप्ति, निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, मूलसूत्र दशवैकालिक, छेदसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध एवं आवश्यकसूत्र में भी प्राप्त होता है।

प्राकृत भाषा निबद्ध स्वतन्त्र दार्शनिक ग्रन्थों में सर्वप्रथम दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द (ईसा की द्वितीय शताब्दी) के ग्रन्थ आते हैं- अष्टपाहुड,समयसार, नियमसार, पंचास्तिकायसार, प्रवचनसार और रयणसार। सर्वप्रथम संस्कृत भाषा में निबद्ध (तृतीय शताब्दी) ग्रन्थ उमास्वाति (दिगम्बर उमास्वामि) विरचित स्वोपज्ञभाष्य सहित तत्त्ववार्थाधिगमसूत्र, तथा प्रशमरतिप्रकरण, दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र (चौथी-पांचवीं शती) विरचित सन्मतितर्कप्रकरण (प्राकृत) और न्यायावतार (संस्कृत), मल्लवादी (पांचवीं शती) का द्वादशारनयचक्र (प्राकृत), पूज्यपाद-देवनन्दी (पांचवी शती) की सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थ पर टीका) और सिंहसूरिगणि (छठीं शती) कृत द्वादशारनयचक्र टीका न्यायागमानुसारी छठीं शती की दार्शनिक रचनायें हैं।

सातवीं शती और उसके बाद की दार्शनिक रचनाओं में याकिनिसूनु आचार्य हरिभद्र रचित अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश, सर्वज्ञसिद्धि, अनेकान्तसिद्धि, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, तत्त्वप्रकाश, लोकतत्त्ववादप्रवेश, अनेकान्तप्रघट्ट, तत्त्वार्थ पर लघुवृत्ति, द्वादशारनयचक्र पर वृत्ति और धर्मोत्तर के न्यायबिन्दु-टीका पर टिप्पण, भट्ट अकलंक रचित अष्टशती (आप्तमीमांसा पर टीका), लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, न्यायचूलिका, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणलक्षण, प्रमाणसंग्रह, प्रमाणरत्नप्रदीप , स्वरूपसम्बोधन, अष्टशती (आप्तमीमांसा पर टीका) और राजवार्त्तिक (तत्त्वार्थ पर टीका), चिरन्तनाचार्य (७१५ई०) लिखित तत्त्वार्थ-टिप्पण, वादीभसिंह (सातवीं-आठवीं शती) रचित नवपदार्थनिश्चय, स्याद्वादसिद्धि और वादन्याय और कुमारनन्दि रचित वादन्याय आदि हैं। नवीं शती में रचित दार्शनिक कृतियों में गुणधर के कषाय प्राभृत पर जयसेन (८३७ई.) रचित जयधवला टीका, हरिभद्रसूरि (८५०ई.) रचित अष्टसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र पर टीका अलोक, अभिसमयालंकार पर टीका अलोक, अभिसमयालंकार पर टीका सुत्तार्थ, दिङ्नाग के न्यायमुख पर वृत्ति, पंचसंग्रह और संचयागाथापंजिका सुबोधिनी हैं। नवी शती में ही दिगम्बर आचार्य विद्यानन्द रचित आप्तपरीक्षा और स्वोपज्ञ वृत्ति, अलंकृति, अष्टसाहस्त्री (आप्तमीमांसा की टीका अष्टशती पर वृत्ति), युक्त्यनुशासन पर टीका और गुणभद्र (८७०ई०) रचित आत्मानुशासन आदि रचनायें हैं।

दसवीं शती की दार्शनिक रचनाओं और वृत्तियों में सिद्धसेनगणि (दसवीं शती) कृत तत्त्वार्थ-टीका, सिद्धर्षिगणि (दसवीं शती) कृत तत्त्वार्थ-टीका, न्यायावतार पर टीका, चन्द्रर्षि महत्तर (९३०ई०) की सस्वोपज्ञवृत्ति पंचसंग्रह , कर्मग्रन्थ सप्ततिका और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति, देवसेन (९३० ई०) रचित दर्शनसार, तत्त्वसार, तत्त्वार्थ टीका, माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुख और प्रमाणपरीक्षा, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती अथवा देवेन्द्रगणि रचित द्रव्यसंग्रह, त्रिभंगीसार और प्रवचनसारोद्धार, माणिक्यधवल (९७०ई०) विरचित द्रव्यस्वभावप्रकाश, कनकनन्दि (९७५ई.) रचित कर्मप्रकृति, बृहत् और लघुद्रव्यसंग्रह और पंचप्ररूपण, अकलंक की दार्शनिक कृतियों के टीकाकार अनन्तवीर्य द्वारा (९८०ई०) रचित टीका प्रमेयरत्नमाला (लघीयस्त्रय पर), न्यायविनिश्चय-वृत्ति, प्रमाणसंग्रह-भाष्य और सिद्धिविनिश्चयटीका और नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती(९८०ई०) रचित कर्मग्रन्थ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड और जीवकाण्ड), लब्धिसार, क्षपणसार, त्रिलोकसार और तत्त्वार्थसूत्र-टीका आदि कृतियां हैं।

ग्यारहवीं शती में विरचित दार्शनिक कृतियों में अमितगति के ग्रन्थ पंचसंग्रह एवं परमात्मस्वरूप, देवगुप्त अथवा जिनचन्द्रगणि अथवा जिनचन्द्रभट्टारक अथवा कुलचन्द्र (१०१७ई.) का नवपदप्रकरण और उस पर स्वोपज्ञवृत्ति, नवतत्त्वप्रकरण और तत्त्वार्थसूत्र पर टीका, वारिदराजसूरि (१०२५ई०) रचित प्रमाण-निर्णय और न्याय-विनिश्चय (अकलंक)-विवरण, प्रभाचन्द्र (१०४०ई.) रचित दार्शनिक कृतियाँ प्रमाणदीपिका एवं सिद्धान्तसार तथा प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थों पर टीकायें- प्रवचनसार - भास्कर, समयसार -वृत्ति, तत्त्वार्थरत्नप्रभाकर (तत्त्वार्थसूत्र-टीका), सम्बन्धपरीक्षा (बौद्ध धर्मकीर्ति) -टीका, आप्त-मीमांसा-टीका, लघीयस्त्रय (अकलंक) पर न्याकुमुदचन्द्रवृत्ति, परीक्षामुख (माणिक्यनन्दि) पर वृत्ति प्रमेयकमलमार्तण्ड, परमात्मप्रकाश (योगीन्दुदेव) की टीका, आत्मानुशासन (गुणभद्र) पर टीका, भास्करनन्दि (१०५०ई.) कृत टीका सुखबोधा (तत्त्वार्थसूत्र), नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि (१०६०ई.) रचित नवतत्त्वप्रकरण (जिनचन्द्र)-भाष्य, सन्मतितर्कप्रकरण पर रचित तत्त्वार्थबोधविधायिनी अथवा वादमहार्णव और चन्द्रप्रभसूरि (१०९२ई.) की दर्शनशुद्धि अथवा सम्यक्त्वप्रकरण, न्यायावतार सिद्धसेन-विवृत्ति और प्रमेयरत्नकोश।

बारहवीं शती के दार्शनिक ग्रन्थों में अनन्तवीर्य (११००ई.) की माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुख पर प्रमेयरत्नमाला अथवा लघुवृत्ति अथवा पंजिका, जिनवल्लभसूरि (११००ई.) कृत कालस्वरूपकुलक, शुभचन्द्र (११००ई.) रचित अपशब्दखण्डन,

समयसार और तत्त्वार्थसूत्र पर टीकायें, यशोदेवसूरि अथवा धनदेव (१११७ई.)

रचित नवतत्त्वप्रकरण (देवगुप्त)- टीका, सकलकीर्तिभट्टारक (११२५ई.) लिखित तत्त्वार्थसूत्र -टीका एवं जीवानुशासन, कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र (११५०ई.) कृत प्रमाणमीमांसा, जयसेन (११५०ई.) कृत पंचास्तिकायसार (कुन्दकुन्द)- वृत्ति, चक्रेश्वरसूरि (११५०ई.) रचित बन्ध-शतक (शिवशर्मसूरि)- वृत्ति, शान्तिसूरि या शान्त्याचार्य (११५०ई.) रचित टीका जैनतर्कवार्त्तिक (न्यायावतार), पद्मप्रभमलधारिदेव रचित नियमसार - वृत्ति, नरचन्द्र उपाध्याय (११७७ई.) रचित ज्ञानचतुर्विंशतिका, मलधारि हेमचन्द्र (११८०ई.) रचित विशेषावश्यकभाष्य (जिनभद्रगणि) पर टीका, रत्नप्रभसूरि (११८१ई.) रचित प्रमाणनयतत्त्वालोक (वादिदेवसूरि) पर रत्नाकरावतारिका टीका आदि।

तेरहवीं शती के दार्शनिक ग्रन्थों में जिनपति अथवा जिनदासूरि (१२०८ई.) लिखित पंचलिंगी (जिनेश्वर)- टीका, नरचन्द्रसूरि (१२१०ई.) कृत श्रीधररचितन्यायकन्दली-टीका, शान्तिसूरि (१२४०ई.) रचित सावचूरि जीवविचारप्रकरण, देवभद्र (१२४०ई.) का न्यायावतार - वृत्ति पर टिप्पण, उदयप्रभसूरि (१२४३ई.) लिखित बन्धशतक (शिवशर्मसूरि) पर टीका, लघु समन्तभद्र (१२५०ई.) लिखित अष्टसाहस्री (विद्यानन्द)-टीका, भावसेन (१२५०ई.) कृत मुक्तिविचार, प्रमाणप्रमेय और भुक्तिविचार, देवभद्र (१२५१ई.) रचित प्रमाणप्रकाश, मलयगिरि (१२८०ई.) कृत शिवशर्म की कर्मप्रकृति और चन्द्रर्षिमहत्तर की सप्ततिका पर टीकायें और अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (१२९०ई.) लिखित नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के गोम्मटसार पर टीका, विद्यानन्द की अष्टसाहस्री पर टिप्पण और अकलंक के लघीयस्त्रयी पर तात्पर्य वृत्ति ।

चौदहवीं शती के दार्शनिक ग्रन्थों में प्रभाचन्द्र (१३१०ई.) लिखित समयसार पर टीका, सोमतिलकसूरि (१३३८ई.) लिखित हरिभद्रसूरि के षड्दर्शनसमुच्चय पर लघुवृत्ति, मलधारि राजशेखरसूरि (१३५०ई.) रचित षड्दर्शनसमुच्चय, जयसिंहसूरि (१३६५ई.) लिखित भासर्वज्ञ के न्यायसार पर न्यायतात्पर्यदीपिका, गुणाकर या गुणसुन्दर (१३७०ई.) लिखित हरिभद्रसूरि के षड्दर्शनसमुच्चय पर वृत्ति, मेरुतुंगसूरि (१३९५ई.) रचित षड्दर्शननिर्णय, सोमसुन्दर रचित (१३९५ई.) नवतत्त्व और मुनिसुन्दर (१३९८ई.) रचित पंचदर्शनस्वरूप।

पन्द्रहवीं शती के दार्शनिक ग्रन्थों में गुणरत्नसूरि (१४१२ई.) द्वारा शशधर कृत न्यायसिद्धान्तदीप पर भाष्य और मुनीश्वर (१४३०ई.) लिखित प्रमाणसार।

सोलहवीं शती के दार्शनिक ग्रन्थों में ज्ञानभूषण (१५०६ई.) रचित आत्मसंबोधन और ज्ञानतरंगिणी, नेमिचन्द्र (१५३०ई.) की जीवतत्वप्रदीपिका (नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती

के गोम्मटसार पर टीका), पद्मसुन्दर (१५५०ई.) रचित प्रमाणसुन्दर, सुमतिकीर्ति (१५६४ई.) की नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती के गोम्मटसार पर टीका, अहोबलसूरि (१५६५ई.) लिखित रामानुज के वेदान्तसार पर टीका, हर्षकुलगणि रचित (१५७०ई.) उदयधर्मगणि के वाक्यप्रकाश पर टीका, धर्मसागर (१५७२ई.) रचित नयचक्र और सर्वज्ञशतक और गुणभद्र आचार्य (१५७५ई.) आदि त्रिभंगीसार उपलब्ध होते हैं।

सत्रहवीं शती में रचे गये दार्शनिक ग्रन्थ इस प्रकार हैं- धर्मभूषणयति (१६१०ई.) कृत न्यायदीपिका, सूरचन्द्र उपाध्याय (१६२२ई.) जैनतत्त्वसार, समयसुन्दर (१६४१ई.) सारसप्तभंगीतरंगिणी, विनयविजय (१६५०ई.) रचित नयकर्णिका, उपाध्याय यशोविजय रचित अनेकान्तव्यवस्थाप्रकरण, द्रव्यगुणपर्यायसार, स्वोपज्ञवृत्ति तात्पर्यसंग्रह सहित जैनतर्कभाषा, जैनन्यायखण्डनखाद्य, ज्ञानसार, ज्ञानबिन्दु, ज्ञानार्णव, नयचक्र, नयदीप, नयरहस्य, स्वोपज्ञवृत्ति न्यायामृततरंगिणी सहित नयोपदेश, न्यायबिन्दु, न्यायालोक, ज्ञानार्णव, वादसंग्रह, स्याद्वादमंजूषा वृत्ति और स्याद्वादकल्पलतावृत्ति (शास्त्रवार्तासमुच्चय-हरिभद्र), बालबोध या विवरण (तत्त्वार्थसूत्र-टीका), लावण्यविजय (१६८७ई.) कृत द्रव्यसप्ततिका और ब्रह्मदेव (१६९०ई.) रचित द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती)-वृत्ति और मतिरत्नसूरि लिखित नवतत्त्वप्रकरण-स्तबक।

अठारहवीं शती में रचे गये दार्शनिक ग्रन्थ इस प्रकार हैं- ढढा (१७००ई.) रचित पंचसंग्रह, देवचन्द्र रचित ज्ञानमंजरीटीका (ज्ञानसार, यशोविजय), नयचक्र और विचारसार, मैत्रीरत्नसूरि (१७४७ई.) का नवतत्त्वकरण-स्तबक, दामोदर (१७५०ई.) लिखित नयविवेक (भवनाथ)-अलंकार, देवेन्द्रकीर्ति (१७५०ई.) रचित समयसार-आत्मख्याति (अमृतचन्द्रसूरि), हंसराज (१७५०ई.) लिखित द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्र) पर वृत्ति, रामचन्द्र (१७५०ई.) लिखित द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्र) पर वृत्ति, क्षमाकल्याणगणि (१७७२ई.) लिखित सुबोधिनी (जीवविचारप्रकरण-शान्तिसूरि) और फक्किका (तर्कसंग्रहदीपिका-अन्नमभट्ट), जिनलाभसूरि (१७८०ई.) रचित आत्माबोध अथवा आत्म-प्रबोध।

उन्नीसवीं शती में रचे गये दार्शनिक ग्रन्थ-भोजकवि (१८२०ई.) स्वोपज्ञ वृत्ति सहित द्रव्यानुयोगर्कणा, अभिनव चारुकीर्ति (१८४५ई.) प्रमेयरत्नालंकार (परीक्षामुख-माणिक्यनन्दी पर टीका) एवं प्रमेयरत्नालंकार-अर्थप्रकाशिका।

बीसवीं शती में रचे गये दार्शनिक ग्रन्थ-हेमहंसगणि (१९११ई.) रचित स्वोपज्ञ न्यास सहित न्यायसंग्रह और स्वोपज्ञ न्यास सहित न्यायार्थमंजूषा, न्यायविजय (१९१३ई.) लिखित 'अध्यात्मतत्त्वालोक, न्यायकुसुमांजलि प्रकरण, न्यायतीर्थ प्रकरण और

न्यायालंकार-टीका (प्रमाण-परिभाषा, धर्मसूरि), विजयदर्शनसूरि अथवा दर्शनविजयसूरि अथवा दर्शनविजय (१९१८ई.) लिखित महार्णवतारिका (सन्मतितर्क), स्याद्वदबिन्दु, गूढ़ार्थदीपिका (तत्त्वार्थसूत्र), बुद्धिसागरसूरि (१९२४ई.) लिखित आत्मदर्शनगीता, स्वोपज्ञ वृत्ति सहित आत्मप्रदीप, आत्मप्रकाश, भावार्थविवेचन (ईशोपनिषद्), लब्धिसूरि (१९२५ई.) लिखित स्वोपज्ञ न्यायप्रकाश सहित तत्त्वन्यायविभाकर, नेमिसूरि (१९४०ई.) का न्यायसिन्धु, लावण्यसूरि (१९४६ई.) लिखित तत्त्वाबोधिनीटीका (अनेकान्तव्यवस्थाप्रकरण-यशोविजय), वृत्ति प्रमोद (नयरहस्य-यशोविजय),वृत्ति प्रमोद (नयोपदेशतरंगिणी-यशोविजय), बालबोधिनीविवृत्ति (नय-प्रदीप-यशोविजय), डॉ० हीरालाल जैन लिखित वृत्ति (परीक्षामुख-माणिक्यनन्दि), मुनिचन्द्रसूरि (१९६९ई.) लिखित वृत्ति (बन्धशतक-शिवशर्मसूरि), उदयचन्द्र (१९७०ई.) लिखित तत्त्वदीपिका (आप्तमीमांसा), पं० सुखलाल संघवी (१९७६ई.) लिखित विवेचन (तत्त्वार्थसूत्र)। इस प्रकार प्रस्तुत लेख में दार्शनिकों की कृतियों का शताब्दी के क्रम से विवरण दिया गया है।

सन्दर्भ :-

१. पाटर, कार्ल, इन्साइक्लोपीडिया आव इण्डियन फिलासफी- खण्ड १, दो भाग, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, तृ.सं. १९९५।

२. न्यू कैटलागस कैटलागरम (१३ भाग), मद्रास विश्व वि., चेन्नई।

३. वेलणकर, एच. डी, जिनरलकोश, मद्रास वि.वि., चेन्नई १९४४।

****

रत्नाकरावतारिका में शब्दार्थ-सम्बन्ध विमर्श

डॉ. अर्चना रानी दूबे

[वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोक पर स्याद्वादरत्नाकर नामक अत्यन्त वृहद् एवं क्लिष्ट स्वोपज्ञ टीका रची है। रत्नप्रभसूरि ने अपने गुरु की इस विशालकाय टीका पर रत्नाकरावतारिका नामक सरल टीका लिखी है। 'रत्नाकरावतारिका' जैन न्याय व जैन-दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।आचार्य रत्नप्रभसूरि ने अपने गुरु 'वादिदेवसूरि' के 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' की वृहद् एवं क्लिष्ट टीका 'स्याद्वादरत्नाकर' में प्रवेश करने हेतु 'रत्नाकरावतारिका' की रचना की।इसके रचयिता 'रत्नप्रभसूरि' की गणना उच्च कोटि के जैन विद्वानों में की जाती है। शब्द और अर्थ में मीमांसक तादात्म्य सम्बन्ध, नैयायिक तदुत्पत्ति सम्बन्ध, जैन वाच्य-वाचक सम्बन्ध और बौद्ध कोई सम्बन्ध नहीं मानते। रत्नप्रभसूरि ने जैनेतर मतों की समीक्षा करते हुए जैन मत की स्थापना की है। प्रस्तुत पत्र का उद्देश्य 'रत्नाकरावतारिका' में प्रतिपादित शब्दार्थ-सम्बन्ध विमर्श को प्रस्तुत करना है।] - **सम्पादक**

'रत्नाकरावतारिका' का रचनाकाल लगभग १२वीं शताब्दी का है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन में पाँचवी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी का काल मुख्य रूप से खण्डन-मण्डन का ही रहा है। जहाँ तक रत्नप्रभसूरि का प्रश्न है, वे भी अपने परिवेश से अप्रभावित न रह सके तथा तत्कालीन परिवेश के अनुरूप रत्नाकरावतारिका की रचना की। शब्दार्थ-सम्बन्ध की सम्पूर्ण चर्चा में जिस प्रकार से उत्तर-प्रत्युत्तर की शृंखला हमें दिखाई देती है वह सम्भवत: उस युग की ही देन थी।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि शब्द का प्रयोग अर्थबोध के लिए ही होता है। सभी सार्थक शब्द अपने उस अर्थ (वाच्यार्थ) का बोध कराते हैं जिसके साथ वे सम्बन्धित होते हैं। इस प्रकार शब्द अपने वाच्यार्थ के संकेतक हैं। किन्तु यह वाच्यार्थ क्या है? वस्तु है या तात्पर्य है, यह विचारणीय है। पाश्चात्य विचारक बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपने ग्रन्थ 'एन इन्क्वायरी इण्टू मीनिंग एण्ड ट्रुथ' में इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है कि अर्थ से हम क्या समझते हैं। भारतीय चिन्तन में एक ओर अर्थ से वाच्य वस्तु को समझा जाता है तो दूसरी ओर अर्थ से हम कथन के तात्पर्य को ग्रहण करते हैं। अत: अर्थ शब्द भारतीय परम्परा में वस्तु अर्थात् वाच्य-विषय और तात्पर्य दोनों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। अर्थ शब्द के अर्थ की अस्पष्टता के कारण ही शब्द और

अर्थ के सम्बन्ध को लेकर अनेक मतों का निर्माण हुआ है। शब्द के अर्थ की चर्चा करते हुए भर्तृहरि कहते हैं,"जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह उसका अर्थ है।"[१]

न्यायमंजरीकार अर्थ का लक्षण करते हैं, 'जिस शब्द से जिस अर्थ का संकेत किया जाता है अर्थात् जिस शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही उसका अर्थ है।[२] इस प्रकार अर्थ से तात्पर्य वाच्य से है तथा शब्द की यही उपयोगिता है कि वह वाच्य-वस्तु का बोध कराए। शब्द अपने वाच्यार्थ के संकेतक हैं। वे कैसे यह संकेत करते हैं, यह प्रश्न अलग है, परन्तु वाच्यार्थ शब्द के माध्यम से प्रकट होता है इसलिए शब्द और वाच्यार्थ के मध्य सम्बन्ध निश्चित है। प्रश्न यह है कि यह सम्बन्ध किस प्रकार का है? उस सम्बन्ध का स्वरूप क्या है?

वैयाकरणों के मतानुसार शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध है। मीमांसक, वेदान्ती तथा तांत्रिक भी तादात्म्यवाद के समर्थक हैं। बौद्ध शब्द और अर्थ के मध्य कोई सम्बन्ध नहीं मानते हैं। सांख्य और जैन दार्शनिक वाच्य-वाचक सम्बन्ध मानते हैं।

जैनों की यह मान्यता है कि शब्द में प्रतिपादक शक्ति है, जिससे वे अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। डॉ० महेन्द्र कुमार जैन शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं, "जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञापक और ज्ञाप्त शक्ति स्वाभाविक है उसी प्रकार शब्द और अर्थ में प्रतिपादक और प्रतिपाद्य शक्ति स्वाभाविक है।"[३] जैन दार्शनिक शब्द और अर्थ के मध्य वाच्य-वाचक सम्बन्ध मानते हैं। शब्द वाचक है तथा अर्थ वाच्य है। शब्द की अलग सत्ता है और अर्थ की अलग सत्ता है। उनके मध्य तादात्म्य न होकर वाच्य-वाचक भाव है। एक दूसरे से सम्बन्धित होने का तात्पर्य यह नहीं कि शब्द वस्तु रूप हो, वह तो संकेतक मात्र है। इस प्रकार वाच्य-वाचक भाव के समर्थक जैन दार्शनिक तादात्म्यवादी वैयाकरणों, मीमांसकों तथा बौद्ध और नैयायिकों का खण्डन करते हैं।

'रत्नाकरावतारिका' का प्रथम सूत्र 'प्रमाणनयतत्त्वव्यवस्थापनार्थमिदमुपक्रम्यते' है। यह आदि वाक्य ग्रन्थ के मुख्य प्रयोजन को स्पष्ट करता है, किन्तु आदि वाक्य का यह प्रयोजन शब्दार्थ सम्बन्ध के आधार पर ही होगा। अत: प्रस्तुत कृति में सर्वप्रथम शब्दार्थ-सम्बन्ध को लेकर विभिन्न दार्शनिकों द्वारा जो विभिन्न प्रकार की शंकाएँ प्रस्तुत की गई हैं, उनके समाधान का प्रयत्न किया जाता है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध - विभिन्न पक्ष :

'रत्नाकरावतारिका' में सर्वप्रथम आदिवाक्य के प्रयोजन में निहित शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर यह शंका प्रस्तुत करते हैं कि शब्द और अर्थ के मध्य कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।[४] यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि मीमांसक शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य-सम्बन्ध मानते हैं। नैयायिक शब्द-अर्थ में तदुत्पत्ति-सम्बन्ध मानते हैं और जैन दार्शनिक शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक आचार्य धर्मोत्तर शब्द और अर्थ के मध्य कोई सम्बन्ध ही स्वीकार नहीं करते हैं, अत: वह अपने मत की पुष्टि हेतु उपर्युक्त तीनों मतों का खण्डन करते हैं।

शब्दार्थ-सम्बन्ध-बौद्ध मत :

आचार्य रत्नप्रभसूरि ने शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में बौद्ध पक्ष प्रस्तुत करते हुए धर्मोत्तर के विचारों को ग्रहण किया है। पूर्व पक्ष के रूप में धर्मोत्तर यह प्रश्न करते हैं कि शब्द और अर्थ परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं अथवा असम्बद्ध? शब्द और अर्थ परस्पर असम्बद्ध हैं- ऐसा मानना तो उचित नहीं होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर शब्दार्थ के बीच वाच्य-वाचक भाव सिद्ध नहीं होगा। ज्ञातव्य है कि जैन दार्शनिकों को शब्दार्थ के मध्य वाच्य-वाचक सम्बन्ध अभिप्रेत है।

यदि शब्द और अर्थ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, ऐसा मान लिया जाए तो विचारणीय है कि उनके मध्य कौन सा सम्बन्ध है? क्या तादात्म्य सम्बन्ध है या तदुत्पत्ति सम्बन्ध है अथवा वाच्य-वाचक सम्बन्ध है?[५]

इस प्रकार शब्दार्थ सम्बन्ध को लेकर बौद्ध दार्शनिक आचार्य धर्मोत्तर के माध्यम से आचार्य रत्नप्रभसूरि चार प्रकार के मतों का उल्लेख करते हैं-

१. तादात्म्य-सम्बन्ध
२. तदुत्पत्ति-सम्बन्ध
३. वाच्य-वाचक सम्बन्ध
४. कोई सम्बन्ध नहीं।

तदुपरान्त क्रमश: इन मतों की परीक्षा करते हैं :

मीमांसक अभिमत तादात्म्य सम्बन्ध :

मीमांसक शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य-सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शब्द और अर्थ परस्पर अभिन्न हैं। जो शब्द है वही अर्थ है तथा जो अर्थ है वही शब्द है। दोनों में अभिन्नता है, अभेद है।[६]

आचार्य रत्नभसूरि द्वारा तादात्म्य-सम्बन्ध की समीक्षा :

तादात्म्य मत की आलोचना करते हुए आचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि यदि शब्द और अर्थ में अभेद है, तो दोनों अलग-अलग नहीं होंगे। सम्बन्ध तो दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में होता है, अत: ऐसी स्थिति में उनमें कोई सम्बन्ध ही नहीं होगा। दूसरे, यदि दोनों अभिन्न हैं तो कोई भी शब्द अपने निश्चित वाच्यार्थ का बोध नहीं करा सकेगा। यदि हम भिन्न-भिन्न शब्दों का उच्चारण करते हैं जैसे- घट, पट, गज आदि तो इनमें भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीति नहीं होगी।[७] इस प्रकार तादात्म्य-सम्बन्ध को लेकर आचार्य रत्नप्रभ विभिन्न प्रकार की आपत्तियाँ दिखाते हुए शब्दार्थ के मध्य तादात्म्य सम्बन्ध को युक्तिसंगत नहीं मानते।

नैयायिक अभिमत तदुत्पत्ति-सम्बन्ध :

नैयायिक अभिमत तदुत्पत्ति-सम्बन्ध का तात्पर्य है कि वे शब्द से अर्थ की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। उनके मत में बिना शब्द के अर्थ की उत्पत्ति नहीं होगी।[८] बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर के माध्यम से रत्नप्रभसूरि प्रश्न करते हैं कि शब्द और अर्थ के मध्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध मानते समय शब्द से अर्थ की उत्पत्ति मानी जाए अथवा अर्थ से शब्द की उत्पत्ति मानी जाए?[९] पुन: आचार्य का तर्क है कि यदि शब्द से अर्थ की उत्पत्ति मानी जाए तो घट, पट, कलश, कुम्भ आदि शब्दों के उच्चारण करने के साथ ही इन पदार्थों की उत्पत्ति हो जानी चाहिए, परन्तु ऐसा अनुभव में नहीं है तथा यह तो सर्वविदित ही है कि अर्थ की उत्पत्ति अपने-अपने कारणों से होती है तथा शब्द की उत्पत्ति स्वर-यंत्रों से होती है जैसे- ओष्ठ, दंत एवं जिह्वा। इस प्रकार शब्द से अर्थ की या अर्थ से शब्द की उत्पत्ति मानने वाले नैयायिकों का तदुत्पत्ति सिद्धान्त भी युक्तिसंगत नहीं है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध - जैन अभिमत वाच्य-वाचक भाव :

रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभसूरि शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में वाच्य-वाचक भाव की पुष्टि हेतु सर्वप्रथम बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर की तरफ से कुछ शंकाओं का उल्लेख करते हैं।[१०] बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर के अनुसार शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक भाव भी उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में धर्मोत्तर की आपत्ति यह है कि यदि शब्दार्थ के मध्य वाच्य-वाचक भाव माना जाए तो पहले यह स्पष्ट करिए कि यह वाच्य-वाचक भाव शब्दार्थ से अभिन्न है अथवा भिन्न?[११] तत्पश्चात् धर्मोत्तर शब्दार्थ और वाच्य-वाचक भाव को परस्पर अभिन्न अथवा भिन्न मानने के दोनों ही पक्षों की असिद्धि दिखाते हैं। 'रत्नाकरावतारिका' में इस प्रकार उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में एक लम्बा वाद-विवाद दिखाया गया है। आचार्य रत्नप्रभसूरि मीमांसकों के तादात्म्यवाद तथा नैयायिकों के

तदुत्पत्तिवाद- दोनों का खण्डन धर्मोत्तर से कराते हैं तथा धर्मोत्तर अभिमत शब्दार्थ के मध्य कोई सम्बन्ध न होने का खण्डन स्वयं करते हैं। अन्त में जैन दार्शनिकों के मत का मण्डन करते हुए संकेत के सहकार से शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक भाव की सिद्धि करते हैं।[१२]

इस प्रकार 'रत्नाकरावतारिका' में आचार्य रत्नप्रभसूरि शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में मीमांसकों के तादात्म्यवाद तथा नैयायिकों के तदुत्पत्तिवाद की समीक्षा में जहाँ बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं, वहीं वाच्य-वाचक सम्बन्ध की समीक्षा में बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर को ही पूर्व-पक्ष बनाकर स्वयं जैन-दर्शन सम्मत सिद्धान्त को उत्तर-पक्ष बनाकर वाच्य-वाचक सम्बन्ध की सिद्धि करते हैं।

सन्दर्भ :

१. यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थ तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्।।, वाक्यपदीय, सम्पा. श्री रघुनाथ शर्मा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २/३२८।

२. अयमस्य पदस्यार्थ इति केचित् स तेन वा।
योऽर्थः प्रतीयते यस्मात् स तस्यार्थः इति स्मृतिः।।,न्यायमंजरी-जयन्त भट्ट, पंचम आह्निकम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९८३, पृ. ४५।

३. जैन दर्शन, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी-५, तृ. सं., १९७४, पृ. २७३।

४. रत्नाकरावतारिका, सम्पा. पं. दलसुख मालवणिया, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद-९, द्वि. सं., १९९३, १.१, पृ. १६।

५. वही, १.१, पृ. १६।

६. वही, पृ. १७।

७. वही, पृ. १७।

८. वही, पृ. १८।

९. तदुत्पत्तिपक्षेऽपि किं शब्दादर्थः उन्मज्जेत्, अर्थात् वा शब्दः?
प्राचिकविकल्पे... प्रकृतशास्त्रारम्भाभियोगोऽपि निरुपयोगःस्यात्।- वही, पृ. १७।

१०. वही, पृ. १९।

११. वही, पृ. १९।

१२. वही, पृ. २२।

****

मनःपर्ययज्ञानः विशेषावश्यकभाष्य के विशेष सन्दर्भ में

पवन कुमार जैन

[जैन दर्शन में मनःपर्ययज्ञान (मनःपर्याय) ज्ञान को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (इंद्रिय और मनः निरेपक्ष) माना गया है तथा विषय अवधि ज्ञान की तरह रूपी पदार्थ ही होता है, अरूपी नही। अवधिज्ञान की अपेक्षा विशुद्ध होता है तथा उससे असंख्यातवें भाग को यह ज्ञान जान सकता है। यह ज्ञान गर्भज़ संज्ञी पर्याप्तक कर्मभूमिज पञ्चेन्द्रिय मनुष्य को होता है, देवादि को नहीं। पञ्चेन्द्रियों में भी सिद्धि प्राप्त अप्रमत्त संयतों को होता है। इस संदर्भ में कोई मतभेद नहीं है परन्तु मनःपर्ययज्ञानी दूसरे के द्रव्य द्वारा मन की पर्यायों को प्रत्यक्ष जानकर पीछे अनुमान द्वारा उसके चिन्तनीय रूपी-अरूपी विषयों को जानता है या उसके द्वारा चिन्तनीय रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, अनुमान अपेक्षित नहीं। ये दो मत मनःपर्ययज्ञान के विषय को लेकर हैं। विशेषावश्यकभाष्य में तथा परवर्ती श्वेताम्बर साहित्य में प्रथम पक्ष (अनुमान से अर्थज्ञान होता है) स्वीकृत है। दिगम्बर परम्परा में तथा पूर्ववर्ती श्वेताम्बर परम्परा में द्वितीय पक्ष स्वीकृत है। पं० सुखलाल संघवी ने इन दोनों मतों की विवेचना कर प्रथम पक्ष को मान्य किया है। लेखक ने भी इसी मत को पुष्ट किया है, विषय चिन्तनीय है।]

-सम्पादक

जैनदर्शन में पाँच ज्ञान स्वीकार किये गये हैं- आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान), श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।[१] इन पांचों ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से विभक्त किया गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं- १. इन्द्रिय प्रत्यक्ष और २. पारमार्थिक प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के श्रोत्रेन्द्रियादि पांच और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष या इन्द्रिय- निरपेक्ष के तीन भेद अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान हैं।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होने के कारण मनःपर्ययज्ञान आत्मा से होने वाला ज्ञान है। इसमें इन्द्रिय एवं मन के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती है, इसीलिए यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। तत्त्वार्थसूत्र में इन्द्रिय एवं मन से होने वाले ज्ञान (मति, श्रुत) को परोक्ष और आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है- आत्ममात्रसापेक्षप्रत्यक्षम्।

मनःपर्ययज्ञान का लक्षण :

१. आवश्यक निर्युक्तिकार - मनःपर्ययज्ञान संज्ञीपंचेन्द्रिय के मनश्चिन्तित अर्थ को प्रकट करता है।[२]

२. पूज्यपाद - दूसरे के मनोगत अर्थ को मन कहते हैं। साहचर्य से उसका पर्यय अर्थात् परिगमन करने वाला ज्ञान मन:पर्यय है।[३]

३. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण - मन के विषय अथवा मन संबंधी पर्ययन, पर्यवन अथवा पर्याय अथवा उस (मन) के पर्याय आदि का ज्ञान मन:पर्यय है।[४]

४. अकलंक - वीर्यान्तराय और मन:पर्ययज्ञान के क्षयोपशम से तदनुकूल अङ्ग-उपाङ्गों का निर्माण होने पर अपने और दूसरे के मन की अपेक्षा से होने वाला ज्ञान मन:पर्यय है।[५]

५. वीरसेनाचार्य - परकीय मन को प्राप्त हुए अर्थ का नाम मन है और उसकी पर्यायों अर्थात् विशेषों का नाम पर्याय है, उन्हें जो जानता है, वह मन:पर्याय है।[६]

६. वादिदेवसूरि - जो ज्ञान संयम की विशिष्ट शुद्धि से उत्पन्न होता है तथा मन:पर्याय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है और दूसरे के मन संबंधी बात को जान लेता है, वह मन:पर्याय हैं।[७]

७. हेमचन्द्र - द्रव्य मन के चिंतन के अनुरूप जो नाना प्रकार के पर्याय होते हैं, उन्हें जानने वाला ज्ञान मन:पर्याय ज्ञान है।[८]

उपर्युक्त सभी लक्षणों का सार यही है कि मन की पर्यायों को इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता के बिना सीधे आत्मा से जानना मन:पर्यायज्ञान है।

नंदीसूत्र में मन:पर्ययज्ञान के स्वामी के लिए संक्षेप में नवविध पात्रता (शर्तें) आवश्यक मानी गई हैं- १. मनुष्य, २. गर्भजमनुष्य, ३. कर्मभूमिजमनुष्य, ४. संख्यातवर्षायुष्यकमनुष्य, ५. पर्याप्त, ६. सम्यग्दृष्टि, ७. संयत, ८. अप्रमत्तसंयत और ९. ऋद्धिप्राप्त संयत। मनुष्य गति में ही मन:पर्ययज्ञान होता है नरक, तिर्यंच और देव गति में मन:पर्ययज्ञान नहीं होता है। मनुष्य गति में भी मन:पर्ययज्ञान दी गई आवश्यक पात्रता को पूर्ण करने वाले मनुष्यों (संयत) को ही मन:पर्ययज्ञान होता है।मन:पर्यायज्ञान दो प्रकार का होता है-ऋजुमति और विपुलमति।[९] ऋजुमति-सामान्य रूप से मनोद्रव्य को जानता है। यह प्राय: विशेष पर्याय को नहीं जानता। ऋजुमति मन:पर्ययज्ञानी इतना ही जानता है कि अमुक व्यक्ति ने घट का चिन्तन किया है, देश, काल आदि से सम्बद्ध घट की अन्य अनेक पर्यायों को वह नहीं जानता।[१०]

विपुलमति- विशेषग्राहिणी मति विपुलमति है। अमुक व्यक्ति ने घड़े का चिन्तन किया है। वह घड़ा सोने का बना हुआ है, पाटलिपुत्र में निर्मित है, आज ही बना है, आकार में बड़ा है, कक्ष में रखा हुआ है, फलक से ढका हुआ है। इस प्रकार के अध्यवसायों के हेतुभूत अनेक विशिष्ट मानसिक पर्यायों का ज्ञान विपुलमति मन:पर्ययज्ञान है।[११]

षट्खण्डागम आदि दिगम्बर साहित्य में ऋजुमति मन:पर्यायज्ञान[१२] के तीन भेद - १.ऋजुमनोगत, २. ऋजुवचनगत और ३. ऋजुकायगत तथा विपुलमति मन:पर्यायज्ञान[१३] के छह भेद-१. ऋजुमनोगत, २. ऋजुवचनगत, ३. ऋजुकायगत, ४. अनृजुमनस्कृतार्थज्ञ, ५. अनृजुवाक्कृतार्थज्ञ और ६. अनृजुकायकृतार्थज्ञ प्रतिपादित हैं। लेकिन श्वेताम्बर साहित्य में ऋजुमति-विपुलमति के प्रभेदों का उल्लेख नहीं है।

मन:पर्ययज्ञानी के मन:पर्ययज्ञान का ज्ञेय विषय क्या है, इसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है? इन मतभेदों की चर्चा पंडित सुखलालजी ने ज्ञानबिन्दुप्रकरण[१४] में दो मतों के रूप में की है:-

१. प्रथम मत: मन:पर्ययज्ञानी मन के द्वारा चिन्त्यमान वस्तु (मनोगत अर्थ) को जानता है अर्थात् किसी जीव ने मन में जिस सचेतन अथवा अचेतन अर्थ का विचार किया है, उसको आत्मा के द्वारा मन:पर्यायज्ञान प्रत्यक्ष जानता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मन के द्वारा चिन्तित अर्थ के ज्ञान के लिए मन को माध्यम नहीं मानकर सीधा उस अर्थ का प्रत्यक्ष होता है। इस मत के समर्थक मन के पर्याय और अर्थपर्याय में लिङ्ग और लिङ्गी का सम्बन्ध नहीं मानते हैं। मन मात्र ज्ञान में सहायक है। जैसे किसी ने सूर्य बादलों में है ऐसा देखा तो उसके इस ज्ञान में बादल तो सूर्य को जानने के लिए आधार मात्र हैं, वास्तव में प्रत्यक्ष तो अर्थ का ही हुआ है। इसलिए मन:पर्ययज्ञान में मन की आधार रूप में आवश्यकता है।[१५]

प्रथम मत के समर्थक: निर्युक्तिकार भद्रबाहु, देववाचक, पुष्पदन्त-भूतबलि, उमास्वाति, पूज्यपाद अकलंक, वीरसेनाचार्य, विद्यानंद आदि आचार्यों ने उपर्युक्त प्रथम पक्ष का समर्थन किया है। नंदीसूत्र में भी मन:पर्ययज्ञानी मनुष्य क्षेत्र में रहे हुए प्राणियों के मन द्वारा परिचिंतित अर्थ को प्रकट करने वाला है। इसी प्रकार आवश्यकनिर्युक्ति एवं तत्त्वार्थभाष्य का भी मत है।[१७] पूज्यपाद, अकलंक[१८] आदि आचार्यों ने भी मन:पर्यय शब्दगत मन का अर्थ दूसरे का मनोगत अर्थ किया हैं- परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते।[१९]तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, धवलाटीका, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक आदि में भी इसी प्रकार अर्थ किया है।[२०] यह अर्थ मूर्त है या अमूर्त इसकी स्पष्टता निर्युक्ति, नंदीसूत्र, षट्खण्डागम आदि में प्राप्त नहीं होती है। इसकी स्पष्टता सर्वप्रथम उमास्वाति ने करते हुए कहा है कि अर्थ (मन:पर्यय का विषय) रूपी द्रव्य है।[२१]

षट्खण्डागम के मतानुसार सर्वप्रथम दूसरे के मन का ज्ञान होता है और उसके बाद में दूसरे की मनोगत संज्ञा, स्मृति, मति और चित्त अर्थात् मनोज्ञान के उपरान्त अन्य जीव के मरण, सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ, क्षेम-अक्षेम, भय-रोग और नगर विकास,

देश विकास, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुवृष्टि-दुर्वृष्टि, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष आदि को जानता है।[२२] भूतकाल में आचरित, वर्त्तन, वाणी और विचार का किसी जीव को विस्मरण हो जाता है तो भी मन:पर्यय बिना पूछे ही जान सकता है।[२३] इतना ही नहीं भविष्य के जन्मों को भी जान सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मन:पर्ययज्ञानी तीनों काल के विचार, वाणी और वर्तन को जान सकते हैं।[२४] इस प्रकार प्रथम मतानुसार मन:पर्ययज्ञानी दूसरे के मन को साक्षात् जानता है।

२. दूसरा मत - चिन्तन प्रवृत्त मनोद्रव्य की अवस्थाएँ अर्थात् मनोगत अर्थ का विचार करने से जो मन की दशा होती है, उस दशा अथवा पर्यायों को मन:पर्ययज्ञानी प्रत्यक्ष जानता है। किन्तु उन दशाओं में जो अर्थ रहा हुआ है, उसका अनुमान करता है अर्थात् मन वाले अर्थ का ज्ञान अनुमान से मानते हैं क्योंकि मन का ज्ञान मुख्य और अर्थ का ज्ञान बाद की वस्तु है। मन के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष रूप से अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। मन:पर्याय का वास्तविक अर्थ है मन की पर्यायों का ज्ञान, न कि अर्थ की पर्यायों का ज्ञान।[२५]

एक पक्ष मन:पर्ययज्ञान का विषय दूसरे के मनोगत अर्थ को स्वीकार करता है और दूसरा पक्ष दूसरे के द्रव्यमन (परचित्त का साक्षात्कार) को मन:पर्ययज्ञान का विषय मानता है।

द्वितीय मत के समर्थक- जिनदासगणि, जिनभद्र, हरिभद्र, मलयगिरि, यशोविजय आदि आचार्यों ने द्वितीय पक्ष का समर्थन किया है अर्थात् द्रव्य मन की पर्यायों को मन:पर्ययज्ञान का विषय माना है। यहाँ पर प्रश्न उठाया गया है कि मन की पर्यायों को जानने के साथ उनमें चिन्त्यमान पदार्थों को जानने की मान्यता उचित है या अनुचित। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि चिन्त्यमान पदार्थ मूर्त भी हो सकता है एवं अमूर्त भी। किन्तु दूसरे के मनोगत अर्थ को अमूर्त मानते हैं, तो वहाँ पर प्रथम मत के अनुसर अमूर्त मनोगत अर्थ को मन:पर्ययज्ञान का विषय मानने में विसंगति आयेगी क्योंकि छद्मस्थ जीव अमूर्त विषय को देख नहीं सकता है।

विशेषावश्यकभाष्य में मन:पर्ययज्ञान का ज्ञेय :

उपर्युक्त विसंगति को दूर करने के लिए जिनभद्र ने दूसरे के मन को मन:पर्ययज्ञान का विषय माना और बाह्य अर्थ को अनुमान का। ज्ञानात्मक चित्त को जानने की क्षमता मन:पर्ययज्ञान में नहीं है क्योंकि ज्ञानात्मक चित्त तो अमूर्त (अरूपी) होता है। जबकि मन:पर्ययज्ञान का विषय मूर्त रूपी वस्तुएं हैं। सभी जैन दार्शनिकों के अनुसार मन:पर्ययज्ञानी रूपी द्रव्यों को जानता है। मन का निर्माण मनोद्रव्य की वर्गणा से होता

है। मन पौद्गलिक है और मन:पर्ययज्ञानी मनोवर्गणा के पर्यायों को जानता है। लेकिन जिस वस्तु का मन में चिन्तन किया गया है। वह चिंतनीय वस्तु मन:पर्यय ज्ञान का विषय नहीं है। उस चिन्तन की गई वस्तु को मन के पौद्गलिक स्कंधों के आधार पर

अनुमान से जाना जाता है।[२६] योगसूत्र और मज्झिमनिकाय में भी दूसरे के चित्त को ही मनोज्ञान का विषय माना है।[२७] जिनदासगणि[२८], हरिभद्र[२९], मलयगिरि[३०],उपाध्याय यशोविजय[३१] आदि आचार्यों ने जिनभद्र का ही समर्थन किया है। सिद्धसेनगणि के अनुसार चिंतन की जाने वाली अमूर्त वस्तु को ही नहीं बल्कि स्तंभ, कुंभ आदि मूर्त वस्तु को भी अनुमान से ही जाना जाता है।[३१]

सिद्धसेनगणि ने मन:पर्यय का अर्थ भाव मन किया है। द्रव्य मन कार्य चिन्तन नहीं करता। चिंतन के समय में जो मनोवर्गणा की पुद्गल-स्कंधादि आकृतियाँ बनती हैं, वे सब पुद्गल रूप होती हैं, जबकि भाव मन ज्ञान रूप होने से अमूर्त होता है। छद्मस्थ अमूर्त को नहीं जान सकता है। चिन्तन के समय मन:पर्ययज्ञानी विभिन्न पौद्गलिक स्कंध की भिन्न-भिन्न आकृतियों का साक्षात्कार करता है। इसलिए मन की पर्याय को जानना अर्थात् भाव मन को जानता है ऐसा नहीं मानना, बल्कि भाव मन के कार्य में निमित्त बने मनोवर्गणा के पुद्गल- स्कंधों को जानता है।[३३]

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में मात्र प्रथम मत मान्य है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में दोनों मत मान्य प्रतीत होते हैं। किन्तु हेमचन्द्र[३३] आदि उत्तरकालीन आचार्यों के द्वारा द्वितीय मत को महत्त्व दिया गया है।

उपर्युक्त दोनों मतों में से द्वितीय मत अधिक उचित प्रतीत होता है, इसके दो कारण हैं-
१. भावमन ज्ञानात्मकरूप होने से अरूपी होता है और अरूपी पदार्थों को छद्मस्थ नहीं जान सकते हैं। लेकिन भाव मन में उत्पन्न विचारों से द्रव्य मन में जिन मनोवर्गणा के स्कंधों का निर्माण होता है, वे पुद्गलमय होने से रूपी हैं और रूपी पदार्थों को छद्मस्थ जान सकता है। अत: मन:पर्ययज्ञान का विषय द्रव्य मन ही होता है, भाव मन नहीं।

२. मन:पर्याय ज्ञान से साक्षात् अर्थ का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि मन:पर्ययज्ञान का विषय रूपी द्रव्य का अनन्तवां भाग है।[३५] यदि मन:पर्यायज्ञानी मन के सभी विषयों का साक्षात् ज्ञान कर लेता है तो अरूपी द्रव्य भी उसके विषय हो जाते हैं क्योंकि मन के द्वारा अरूपी द्रव्य का भी चिन्तन हो सकता है, लेकिन मन:पर्यय ज्ञानी इन्हें नहीं जानता है। अवधिज्ञानी सभी प्रकार के पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण कर सकता है। किन्तु

मन:पर्ययज्ञानी उनके अनन्तवें भाग अर्थात् मन रूप बने हुए पुद्गलों को मानुषोत्तर क्षेत्र के अन्दर जान सकता है। मन का साक्षात्कार कर उसमें चिन्तित अर्थ को अनुमान से जानता है। ऐसा मानने पर मन द्वारा सोचे गये मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्यों को जान सकता है।

उपर्युक्त दो कारणों से द्वितीय मत का पक्ष अधिक मजबूत होने से मन:पर्ययज्ञान का विषय द्रव्यमान को मानना अधिक तर्कसंगत है। इसका समर्थन पं. सुखलाल संघवी[३४] ने भी किया है। उनका मानना है कि प्रथम परम्परा में दोष उत्पन्न होने के कारण ही द्वितीय मत का विकास हुआ है क्योंकि मन:पर्ययज्ञानी दूसरे के मन की पर्यायों को ही जानता है, उसके मन में चिन्त्यमान पदार्थों को तभी जान सकता है जब मन की पर्यायों को जान लिया हो। मन की पर्यायों को जानने के बाद यदि चिन्त्यमान पदार्थों को जानना है उन्हें अनुमान से जाना जा सकता है या फिर अवधिज्ञान से। चिन्तन को जानना तथा चिन्त्यमान पदार्थों को जानना भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य हैं।

मन:पर्ययज्ञान से जानने की प्रक्रिया- अढ़ाई द्वीपवर्ती मनवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त किसी भी वस्तु का चिन्तन मन से करते हैं। चिन्तन के समय चिन्तनीय वस्तु के अनुसार मन भिन्न-भिन्न आकृतियों को धारण करता है, ये आकृतियाँ ही मन की पर्यायें हैं । इन मानसिक आकृतियों को मन:पर्ययज्ञानी साक्षात् जानता है और चिन्तनीय वस्तु को मन:पर्ययज्ञानी अनुमान से जानता है, जैसे कोई मानस शास्त्री किसी का चेहरा देखकर या प्रत्यक्ष चेष्टा देखकर उसके आधार से व्यक्ति के मनोगत भावों को अनुमान से जान लेता है, उसी प्रकार मन:पर्यय से मन की आकृतियों को प्रत्यक्ष देखकर बाद में अभ्यास वश ऐसा अनुमान कर लेता है कि इस व्यक्ति ने अमुक वस्तु का चिन्तन किया है क्योंकि उसका मन उस वस्तु के चिन्तन के समय अमुक प्रकार की परिणत आकृति से युक्त है, यदि ऐसा नहीं होता तो इस प्रकार की आकृति नहीं होती इस तरह चिन्तनीय वस्तु का अन्यथानुपपत्ति (इस प्रकार के आकार वाले मनोद्रव्य का परिणाम, इस प्रकार के चिन्तन बिना घटित नहीं हो सकता, इस प्रकार के अन्यथानुपत्ति रूप अनुमान) द्वारा जानना ही अनुमान से जानना है। इस तरह यद्यपि मन:पर्ययज्ञानी मूर्त द्रव्यों को ही जानता है, परन्तु अनुमान द्वारा वह धर्मास्तिकायादि अमूर्त द्रव्यों को भी जानता है, इन अमूर्त द्रव्यों को उस मन:पर्यायज्ञानी द्वारा साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है।

उपर्युक्त चर्चा का सारांश यह है कि मन:पर्ययज्ञानी का विषय द्रव्यमन ही होता है, चिन्तन के समय संज्ञी पंचेन्द्रिय के द्रव्य मन में जिन मनोवर्गणा के स्कंधों का निर्माण

होता है, वे पुद्गल होने से रूपी होते हैं और इन रूपी स्कंधों (पर्यायों) के आधार पर चिन्तन किये गये घटादि पदार्थ को अनुमान से जान लेता है।

संदर्भ :

१. (अ) नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तंजहा- आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मण-पज्जवनाणं, केवलनाणं।- नंदीसूत्र, युवाचार्य मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति,ब्यावर १९९१, पृ. २४।
(ब) मतिश्रुताऽवधिमन:पर्यायकेवलानि ज्ञानम् ।१/९ - तत्त्वार्थसूत्र।

२. मणपज्जवनाणं पुण जणमणपरिचिंतियत्थपागडणं।- गाथा ७६, आवश्यकनिर्युक्ति, श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट,मुम्बई,।

३. परकीय मनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते। साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमने मन:पर्यय।- पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ,नई दिल्ली ग्यारहवां सं. २००२, पृ. ६७-६८।

४. पज्जवणं पज्जयणं पज्जों वा मणिम्मि मणसों वो।....-विशेषावश्यकभाष्य, भाई समरथ जैन श्वे. मु. शास्त्रोद्धार ट्रस्ट, अहमदाबाद १९६२, गाथा ८३, पृ. ४७।

५. वीर्यान्तरायमन:पर्ययज्ञानावरण क्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभोपष्टंभादात्मीयपरकीयमन: सम्बन्धेन लब्धवृत्तिरूपयोगी मन:पर्यय।-अ.१, सूत्र २३.३, तत्त्वार्थराजवार्तिक, अकलंक,संपा. पं. गजाधरललाल जैन, सनातन जैन ग्रंथमाला, पृ. ५८।

६. परकीयमनोगतोऽर्थो मन: मनस:पर्याय: विशेषा: मन:पर्याय: तान् जानातीति मन:पर्ययज्ञानम्।- षट्खण्डागम (धवलाटीका), जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर १९९३, पु. १३, पृ. २१२।

७. विशुद्धिनिबंधनाद् विशिष्टावरणविच्छेदाज्जातं मनोद्रव्यपर्यायालम्बनं मन:पर्यायज्ञानम्।- सूत्र. २.२२, प्रमाणनयतत्त्वालोक, श्री रत्न जैन पुस्तकालय, अहमदनगर, तृ. सं. २०००, पृ. २३।

८. मनसो द्रव्यरूपस्य पर्यायश्चिन्तनगुणपरिणामभेदास्तद्विषयं ज्ञानं मन:पर्याय:।- प्रमाण मीमांसा, हेमचन्द्र, अनु. पं. शोभाचन्द्रभरिल्ल, पृ. ३५।

९. तं च दुविहं उप्पजइ तंजहा- १. उज्जुमती य, २. विउलमती य।- नंदीसूत्र, युवाचार्य मधुकरमुनि, पूर्वोक्त पृ. ४९।

१०. रिजु सामण्णं सम्मत्तगाहिणी रिजुमई मणोणाणं। पायं विसेसविमुहं घडमेत्तं चिंतियं मुणइ।- विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ७८४।

११. विउलं वत्थुविसेसणमाणं तग्गाहिणी मई विउला। चिंतियमणुसरइ घडं पगसओ पज्जवसएहिं।- वही गाथा ७८५।

१२. जं. तं उज्जुमदिमणपज्जवयणाणावरणीय णाण कम्मं तं तिविहं उजुमं जाणादि, वचिगदं जाणादि, उजुगं कायगयं जाणादि।-सूत्र ५.५.६२ षट्खण्डागम, पु. १३, पृ. ३२९।

१३. जं तं विउलमदिमणपज्जवयणाणावरणीयंणाम् कम्मं छव्विह उज्जुगमणुज्जुणं जाणादि, उज्जुगमणुज्जुगं वचिगदं जाणादि, उज्जुमणुज्जुणं कायगज्जुदं जाणादि।- षट्खण्डागम, भाग १३, पृ. ३४०।

१४. ज्ञानबिन्दुप्रकरणम्, परिचय, पं. सुखलाल संघवी, सिंघीं जैनज्ञानपीठ, अहमदाबाद १९४१, पृ. ४१।

१५. सर्वार्थसिद्धि १.९, तत्त्वार्थराजवर्तिक १.२६.६-७।

१६. नंदीसूत्र, युवाचार्य मधुकरमुनि, पृ.५२।

१७. अवधिज्ञानविषयस्यानन्तभागं मन:पर्यायज्ञानी जानीते रूपिद्रव्याणि मनोरहस्य-विचारगतानि च मानुष्यक्षेत्रपर्यान्ननि विशुद्धतराणि चेति।-सूत्र १.२९, तत्त्वार्थधिगमसूत्रम् (तत्त्वार्थभाष्य) उमास्वाति, सेठ देवचन्द्र लालभाई, सूरत १९२५ ।

१८. परकीयमनोगतार्थज्ञान मन:पर्यय।- तत्त्वार्थवार्तिक १.९.४ और १.३.२-४।

१९. सर्वार्थसिद्धि १.९, पृ० ६७, इसी प्रकार परकीय मनसि व्यवस्थितोऽर्थ: अनेन ज्ञायते इत्येतावदत्रापेक्ष्यते। सूत्र१.२३, पृ० ९२।

२०. (क) तत्त्वार्थराजवार्तिक १.९.४, पृ० ३२, (ख) षट्खण्डागम (धवलाटीका), पु. १३, सूत्र ५.५.६०, पृ० ३२८, (ग) तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक १.२३.१३, पृ. २४६।

२१. रूपिद्रव्यषुसर्वपर्यायेष्ववधेर्विषयनिबन्धो भवित। तदनन्तभागे मन:पर्यायस्येति।- तत्त्वार्थभाष्य, १-२६, पृ. १०४।

२२. मणेण माणसं पडिचिंदइत्ता परेसिं सण्णा सदि जाणावि। षट्खण्डागम (धवलाटीका), पु. १३, सूत्र ५६.६३, पृ. ३३२।

२३. तत्वार्थवार्तिक, १.२३.४।

२४. षट्खण्डागम, पु. १३, सूत्र ५.५.६५, पृ. ३३८।

२५. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८१४।

२६. मुणइ मणोदव्वाइंनरलोए सो मणपज्जयाणाइं। काले भूय-भविस्से पलियाडसंखिज्जभागम्मि दव्वमणोपज्जए जाणई पासइ य तग्गएणंते। तेणावभासिए उण जाणइ बज्झेणुमाणेणं -विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१३-१४, मनश्चिन्ताप्रवर्तकानि द्रव्याणि मनोद्रव्याणि। चिन्तको हि मूर्तमतं च वस्तुं चिन्तयेत न च छद्मस्थोऽमूर्तं साक्षात् पश्यति,ततो ज्ञायते-अनुमानादेव चिन्तनीयं वस्तुगच्छति।- गाथा ८१३-८१४, विशेषावश्यकभाष्य, मलधारि हेमचन्द्र वृत्ति, पृ. ३३२।

२७. योगभाष्य, ३-१९, ३४।

२८. सण्णिणा मणत्तेण मणिते मणोसंधे अणंते अणंतपदेसिए दव्वट्ठताए तग्गते य वण्णादिए भावे मणपज्जणाणेणं पच्चक्खं पेक्खमाणो जाणति त्ति भणितं, मुणितमत्थं पुण पच्चक्खं ण पेक्खात जेण मणलंबणं मुत्तामुत्तां वा सो य

छउमत्थो तं अणुमाणतो पेक्खति त्ति आतो पासाणता भविता। (संज्ञी जीव द्वारा मनरूप में परिणत अनन्तप्रदेशी मन के स्कन्ध तथा तद्गत वर्ण आदि भावों को मन:पर्ययज्ञानी साक्षात् देखता है। वह चिन्तित पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं देखता, अनुमान से देखता है, इसलिए उसकी पश्यत्ता बताई गई है। मन का आलम्बन मूर्त्त-अमूर्त्त दोनों प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं । अमूर्त्त को साक्षात् नहीं देखा सकता)।

२९. नंदीवृत्ति (हारिभद्रीय) जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुम्बई, पृ. ४१।

३०. इह मनस्त्वपरिणतै:स्कन्धैरालोचित बाह्यमर्थ घटादिलक्षणं साक्षाद्धाक्षतो मन:पर्यायज्ञानी न जानाति, किन्तु मनोद्रव्याणामेव तथा रूपपरिणामान्यथानुपपत्तितेऽनुमानत: नंदीवृत्ति (मलयगिरि) आगमोदयसमिति, १९८२, पृ. १०९।

३१. ये तु चिन्त्यमाना: स्तम्भ-कुंभादयास्तानक मानेनावगच्छन्ति।- तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् (तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी), सेठ देवचन्द्र लालभाई, संवत् १९८२, पृ. १०१।

३२. मनो द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्च, तत्र द्रव्यमनो मनोवर्गणा, भावमनस्तु ता एव वर्गणा जीवेन गृहीता: सत्यो मन्यमानाश्चित्यमाना भावामनोऽभिधीते। तत्रेह भावमान: परिगृह्यते, तस्य भावमानस: पर्यायास्ते चैवंविधा:- यदा कश्चिदेवं चिन्तयेत् किंस्वभाव आत्मा? ज्ञानस्वभावोऽमूर्त: कर्ता सुखदीनामनुभविता इत्यादयो ज्ञेयविषयाध्यवसाया: परगतास्तेषु यज्ज्ञानं तन्मन:पर्यायज्ञानम। तानेव मन:पर्यायन् परमार्थत: समवबुध्यते, बाह्यास्त्वनुमानादेवदेवेत्यसौ तन्मन:पर्यायज्ञानम्।- तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी पृ.७०।

३३. मनसे दद्रव्यरूपस्य पर्यायाश्चिन्तनुगुणा: परिणामभेदास्तद्विषयं ज्ञानं मन:पर्याय:। यद्बाह्यचिन्तनीयार्थज्ञाने तत् आनुमानिकमेव न मन:पर्यायप्रत्यक्षम।- प्रमाणमीमांसा, पं.सुखलाल संघवी, सरस्वती पुस्तकं भंडार,अहमदाबाद, १९८९, १.१.१८, पृ. १५।

३४. तदनन्तभागे मन:पर्ययस्य।- तत्त्वार्थसूत्र, १.२९।

३५. प्रमाणमीमांसा, भाषाटिप्पण, पृ. ३७-३८

****

Ardhamāgadhi Jaina Canons: Editing, Translation, Publication and Research

Dr. Ashok Kumar Singh

This article presents a brief sketch of the editors, publishers, translators of the Ardhamāgadhi canonical literature. It also furnishes the details of publications of two important Ardhamāgadhi texts - Ācārāṅga and Uttarādhyayana as example. The researches carried out for Ph.D. Degrees on Jaina canons also have been enumerated here in two groups: Doctoral Disserations on Jaina canons in general and those on particular texts. It also contains brief information on sources dealing with Ardhamāgadhi canonical literature. ***-Editor***

The publication of Ardhamāgadhi canonical literature started during the latter half of the 19th century and within no time, the scholars all over the world were involved with it. Twentieth century has been very significant for publication and study of the canonical literature. The English translation of the *Kalpasūtra* by Stevens in 1848 was probably the first effort in this direction. German scholar Mr. Weber critically edited a portion of *Vyākhyāprajñapti (Bhagavatī)* with notes in 1865-1866. German Indologist Hermann Jacobi published the English translation of four texts- *Ācārāṅgasūtra, Sūtrakṛtāṅgasūtra, Uttarādhyayanasūtra* and *Kalpasūtra* in Sacred Books of the East (SBE) Series No.17, 18, during 1879-1882. The text of *Ācārāṅgasūtra* edited by Jacobi was published by Pali Text Society, London 1882. Leumann edited *Aupapātika* (Leipzig, 1883) *Āvaśyakasūtra* and *Jītakalpacūrṇi* (Berlin, 1892) and P. Stenthil edited *Jñātādharmakathā.* Warren edited *upāṅgasūtra Nirayāvalikā* and published it from Amsterdam 1879. LD Barnett published the English translation of *Antakṛddaśā* (1907) and *Anuttaraupapātikadaśā (*1907). Walter Schubring brought out *Ācārāṅgasūtra* in Roman script (Leipzig) in 1910. It was published in Devanāgarī script in (Jaina Sāhitya Saṁśodhaka Samiti, Pune) 1924. Jarl Charpentier edited *Uttarādhyayanasūtra* and published it from Uppsala 1922. Schubring

also translated the first book (1st *śrutaskandha*) of *Ācārāṅgasūtra* in German under the title *Worte Mahavira* (Leipzig, 1926) along with some portion of the *Sūtrakṛtāṅgasūtra.* Schubring also edited *chedasūtras Niśīthasūtra, Bṛhatkalpasūtra, Vyavahārasūtra* and *mūlasūtra Daśavaikālikasūtra (*Ahmedabad 1923*).* Jaina Sāhitya Sanśodhaka Samiti, Pune published in Devanāgarī script some of the canonical texts published in Roman, such as *Sūtrakṛtāṅga* (1928), *Upāsakadaśā* (1930), *Antakṛddaśā* (1932), *Anuttaraupapātikadaśā* (1932) and *Vipākasūtra* (1932).

Rai Dhanpat Singh, Murshidabad initiated the uphill task of the publication of canons, in India, in 1874 in the series Āgama Saṅgraha. He incorporated the respective commentaries- *ṭīkās, dīpikās, bālāvabodha* etc. with the text and its Hindi translation. He published the important texts, only in eleven years.

Hindi translation of Āch. Amolaka Ṛṣiji of thirty- two Jaina canons accepted by Śvetāmbara Sthānakavāsī sect was published by Lala Sukhadeva Prasad Jwala Prasad, Hyderabad and Amola Jñānālaya, Dhulia. Sthānakavāsī Āch. Ghasilal wrote Sanskrit commentary on thirty two texts. He also translated these texts in Hindi and Gujarati. These works were published by All India Śvetāmbara Sthānakavāsī Jaina Shastroddharaka Samiti, Ahmedabad. Phoolchand 'Pupphabhikkhu' prepared the abridged edition of texts, published in two parts, In: *Sūtrāgama.* Its Hindi translation was published under title *Arthāgama.* Rev. Āch. Ātmaramaji translated in Hindi with Sanskrit rendering, word-meaning and commentary, the 19 texts out of 32 (accepted by Shānakavāsi). These texts were published by Āch. Ātmarama Jain Prakashan Samiti, Ludhiana. Its second edition was published, present Āch. of Śramaṇasangha Rev. Dr. Shivmuniji, as the editor.

Sthānakavāsi Āch. Hastimalaji wrote Sanskrit commentary on *Nandīsūtra,* prepared Hindi translation with Hindi commentary of *Praśnavyākaraṇa* and *Bṛhatkalpa.* His Hindi translation of *Antakṛddaśā* with Sanskrit rendering and word-meaning was published by Samyagjñāna Pracharkamandala, Jaipur. He was also

instrumental in preparing the Hindi translation in verse of the texts *Uttarādhyayana* and *Daśavaikālikasūtra.* Akhila Bharatiya Sadhumārgi Jaina Sanskriti Rakṣaka Sangha, Sailana brought out the texts of 32 canonical texts. The Hindi translation of *Bhagavati* in seven parts was also published from Sailana. Āgama Prakashan Samiti, Byavar (Raj.) brought out Hindi translation of 32 Jaina canonical texts with notes and exhaustive introduction. Terapanth tradition under the patronage of Āch. Tulasi and Ach. Mahaprajña published the 32 canonical texts in six volumes- *Aṅgasuttāṇi* 1-3, *Uvaṅgasuttāṇi* 4-5 and *Navasuttāṇi* 1-2, published by Jaina Vishva Bharati, Ladanun. Terapantha tradition also published texts with Hindi translation, notes etc. such as *Ācārāṅga, Sūtrakṛtāṅga, Sthānāṅga, Samavāyāṅga, Uttarādhyayana, Daśavaikālika, Nandī,* etc. English translation of the first part of *Ācārāṅga* has also been published by Jaina Vishva Bharati, Ladanun. *Ācārāṅga bhāṣya* (Sanskrit comm.) has also been published by Ladanun. Padmaprakashan, Delhi has brought out the Hindi and English translation of the text and commentaries in the Illustrated Āgama Series, Upapravartaka Sri Amarmuni as Editor-in- Chief and Shrichand Surana 'Sarasa' as the editor. As regards the publication of the canons by Śvetāmbara Mūrtipūjaka tradition Āgamodaya Samiti, Surat published the texts edited by Sāgaranandsūri. Munisri Puṇyavijayji, Munisri Jambuvijayaji, Pt. Bechardasa Doshi, Padmabhūṣaṇa Pt. Dalsukh Malvania etc. great scholars of Jainology were instrumental in bringing out the editions of Mahavira Jain Vidyalaya, Mumbai. Mahavira Jaina Vidyalaya, in addition published the twenty-two *Prakīrṇakas* under the title *Paiṇṇayasuttāim* (two parts). Canonical texts were also published by Harṣapuṣpāmṛta Text Series, Lakhabaval. It published for the first time the text of *Mahāniśīthasūtra* (photo of manuscript). All the canons were published in the series *Āgamaratnamañjūṣā,* edited by Munisri Ānandsagarji. Āgamaśruta Prakashan, Ahmedabad published forty-five Āgama texts, edited by Muni Deep Ratnasāgar. Āgama Ahiṁsā Sansthāna, Udaipur undertook the publication of Prakīrṇakas with Hindi translation. Besides, Motilal Banarasidass, Delhi, Āgamodaya

Samiti, Mehsana, Hiralal Hansaraja, Jamnagar, Punjabhai Jaina Text Series, Navajivana office, Ahmedabad, Siddhacakra Sāhitya Committee, Mumbai, Ṛṣabhadeva Keśarimala Śvetāmbara Sañsthā, Ratlam, D. L. P. Fund Series, Surat, Yaśovijaya Jaina Granthamala, Bhavnagar, Jaina Pāramārthika Saṁstha, Bikaner, Ātma- Jñāna-Śramaṇa- Śiva Āgama Prakashan Samiti, Ludhiana, Bhagavan Mahavira Meditation & Research Centre Trust, Delhi, etc. large numbers of institutions have made valuable contribution in publishing the canonical texts, their hindi and Gujarati translation and commentaries. The editions of *Ācārāṅgasūtra* and *Uttarādhyayana* are given below to give an idea of the publication works in the area of canonical texts:

Published Editions of Ācārāṅgasūtra:

1. Text with *Niryukti, Ṭikā* of Śilāñka, *Dīpikā* of Jinahaṁsa, *Bālāvabodha* of Pārśvacandra, Rai Dhanapat Singh Bahadur Āgama Saṅgraha S. No.1, Calcutta 1880, p. 437, 283.
2. Text, ed. H. Jacobi, Pāli Text Society, London 1882. // (*Jaina Sūtras* Pt. 1) English trans. by H. Jacobi, SBES. Vol. No. 22, Oxford Clarendon Press, London 1884, P.P.1-212.
3. Reprint Motilal Banarasi Dass, Delhi, 1964.
4. (*Ācārāṅgasūtra*) Text with Gujarati translation, Ravjibhai Devaraj Jaina Dharma Book Series, Ahmedabad 1902, p. 40, 253.// 2nd ed. p. 14, 403,
5. (*Ācārāṅgasūtra*) ed. W. Schubring, Leipzig 1910, p.9, 109 // Reprinted Lie Chteristein, Krauseprint Ltd. 1966.
6. Text with glossary (*Ācārāṅga*) Ed. W. Schubring, In: *Jaina Sāhitya Saṁśodhaka Series*, Jaina Sāhitya Saṁśodhaka Committee, Pune 1924, p. 58.
7. Text with variant readings and glossary, Devanāgarī transliteration from Schubring's edition (*Ācārāṅgasūtra*). The first *śrutaskandha* is translated into German by W. Schubring In: *'Worte Mahāvīras'*, Leipzig. 1926.
8. Text with Hindi trans. of Amolaka Ṛṣi, Lala Sukhadeo Sahaya Jwala Prasad Jauhari, Hyderabad 1916, p. 638. // 2nd ed. Trans. Amolaka Ṛṣi, ed. Shobhacandra Bharilla, Amolaka Ṛṣi Memorial S. No. 66, Amola Jaina Jñānālaya, Dhuliya 1950, p. 44, 380.

9. (*Ācārāṅgasūtra*) Text with *niryukti* and Śilāṅka's commentary, ed. Sagaranandasuri, Āgamodaya Samiti, Mehsana 1917, p. 252.
10. (Re edited 2nd ed.) ed. Jambuvijaya, Lala Sunder lal Jaina Āgama Text S. No. 1, MLBD, Delhi 1978, p. 42+288, [With text etc. of *Sūtrakṛtāṅga* with alphabetical index of *gāthās* of texts as well as *niryuktis* of these two texts*]*.
11. *(Ācārāṅgasūtra)* Text with *niryukti*, Śīlāṅka comm. and Gujrati trans. of comm., Hiralal Hansaraja, Jamnagar 1932-35, 5 parts, p. 1120.
12. *(Ācārāṅgasūtra)* Gujarati trans. of Śīlāṅka's comm. by Manek muni, Mohanlal Jain Jñānabhandara, Gopipura, Surat 1922, p. 15, 352.
13. (*Ācārāṅgasūtra*) Text with *niryukti*, Shīlāṅka's commentary, Siddhacakra Sāhitya Committee, Bombay 1932, Two parts, pp. 288, 289 400.
14. Text with *niryukti*, Jainanand Pustakalaya, Gopipura, Surat 1935.
15. Gujarati trans. of I[st] *śrutaskandha*, Muni Saubhagyacandra, Mahāvira Sāhitya Prakashana Mandira S. No 4, Ahmedabad 1936, p. 52, 431, 110, [contains as appendices comparative study of *Ācārāṅga* and *Bhāgavadgītā*, a brief discussion of on six systems of philosophy, glossary of technical terms, and maxims of *Ācārāṅga*.]
16. Translation in Gujarati by Gopaldas J. Patel, Punjabhai Jaina Text S. No. 11, Navajivana Office, Ahmedabad 1935, p. 20,208.
17. Hindi Summary, Gopaldas Patel, Śvetambara Sthānakavāsi Jaina Conference, Bombay 1937, p. 132.
18. Text with *niryukti*, *cūrṇi* (Jinadāsagaṇi) ed. Sagaranandsūri, Ṛṣabhadeva Keśarimala Śvetambar Sanstha, Ratlam 1941, p. 382.
19. Comm. (*dīpikā*) of Ajitadeva, I[st] *śrutaskandha*, ed. Vijayakumudsūri, Maṇivijayagaṇi Text S. No. 11, Bhavnagar 1949, p. 6, 240.
20. Text with Shīlāṅka's Comm., D. L. P. Fund Series, Surat.
21. Text with Hindi trans. of Muni Saubhāgyamala, ed. Vasantilal, Jaina Sahitya Samiti, Ujjain 1951, p. 621 [Also contains Sanskrit rendering, word meaning, Notes, along with Variant readings and Glossary of technical terms as appendices.]
22. Text with Hindi trans. Ghevaracandra Banthia, Agarachand Bhairodan Sethia, Jaina Pāramārthika Sanstha, Bikaner 1951, p.7, 305. [*prose order,* word meaning etc. also]
23. with Sanskrit comm. and Hindi- Gujarati trans. Muni Ghasilala, Jaina Shāstroddhāra Samiti, Rajkot 1957-1971, 5 parts, p. 12, 720 (I), 72, 433 (II), 84, 619 (III) and 1186 (IV).

24. Text with Hindi trans. comm. Atmaramaji, ed. Muni Samadarśī, Jaina Śāstramālā No. 6, 7 Atmaramaji Jaina Publication Committee, Ludhiana 1963, Two parts, p. 51, 1483. [contains Sanskrit rendering, *padānvaya*, glossary of technical terms. Hindi comm. is based on comm. (*dīpikā*) of Jinaharṣa and (*bālāvabodha*) of Pārśvacandra.// 2nd edition, editor, Ach. Dr. Shivamuniji Mah., Ātma- Jñāna- Śramaṇa- Śiva Āgama Prakashan Samiti (Ludhiana), Bhagavan Mahavira Meditation & Research Centre Trust, Delhi,2003
25. 1st *śrutaskandha*, trans. in Bengali by Hirākumāri Bothra, Jaina Śvetāmbar Terapanthi, Mahasabha, Calcutta 1952, p. 4+71.
26. *Āyāre*, ed. Phoolcandra 'Pupphabhikkhu' Sūtrāgama Publication Committee, Gurgaon Cantt. 1953, pp. 1 100, [Text In: *Suttāgame* Vol. The edition contains variant reading and brief discussion of *Ardhamāgadhi* Grammar].
27. Hindi trans. of Saubhāgyacandra, ed. Pupphabhikkhu, *Arthāgama* Vol. I, Gurgaon Cantt. 1971, p 165.
28. (*Āyāro* taha *Āyāracūlā*) ed. Nathmal Muni (Late Ach.Mahāprajña), *Āgamasutta* Text S. No. 2, Jaina Śvetāmbar Terāpanthi Mahāsabhā, Kolkata 1957, p 632. [Text with variant readings and index of words.]
29. (*Āyāro*) ed. Yuvācārya Mahāprajña (Late Ach. Mahāprajña), trans. Muni Mahendra Kumar, Jaina Canonical Text S. No. 1, Jaina Vishva Bharati, Lad nun 1981, p. 24, 433.
30. Ist *śrutaskandha*. Gujarati trans. Darshan Thakare, The Translator, Thanagarh Saurastra 1964, p. 432.
31. With Gujarati trans. Sadhvi Lilamabai, Hasumatiji, ed. Shobhachandr Bharilla, *Prema Jināgama* (S. No. 1) Publication Committee, Bombay 1974 75, p. 296.
32. Text ed. Jinendravijayagaṇi, Āgama Sudhā Sindhu Vol. 1/1, Harṣapuṣpāmṛta Jaina Text Lakhabawala 1974, p. 140.
33. (*Āyārāṅgasuttaṁ)* ed. Muni Jambuvijaya, Jaināgama Text S. No. 2 (1) Mahāvīra Jaina Vidyalaya, Bombay 1977, p. 80, 422. [contains index of words, alphabetical list of *gāthās*, notes, variant readings etc.
34. (Ist *śrutaskandha*) Gujarati trans. ed. Nagindas Kevaladāsa Shah, The editor, Ahmedabad 1979, p. 32, 145.
35. Ed. Ratanlal Doshi, A B. S. Jaina Culture Saṁrakṣaka Saṁgha, Sailana 1980, p. 416.

36. With Hindi trans. ed. Madhukar Muni, trans. Śricandra Surana, Jaināgama Text S. No. 1, 2, Āgama Prakāshana Samiti, Byavar 1980, p. 47, 376 (1) 24, 483 (2)[contains comm. and notes in Hindi, with index of proper names, technical terms, *gāthās* etc.].
37. *Aṅgasuttāṇi* Vol.1, Jaina Vishva Bharati Publication, Ladnun 1974, pp. 1 252.
38. (*Adaro*) *Ist śrutaskandha,* Synod Chief Āch. Tulasi, ed. & comm, Āch. Mahāprajña, English trans. Dr. Nathmal Tatia, Muni Mahendra Kumar, Jaina Canonical Text Series Vol. 1, Today and Tomorrow's Printers & Publishers, New Delhi 1981, p. 24, 437. [Text in Devanāgarī and Roman Scripts with English translation, annotations, notes, glossary and Index with a foreword by Dr. Nathmal Tatia.]
39. (*Ācārāṅgabhāṣyam*) with comm. Āch. Mahāprajña, trans. Muni Dulaharaj, Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun 1994, p 40, 543. [With Sanskrit comm. Hindi translation, comparative notes, topics in text and comm., classified list of topics and 12 appendices such as alphabetical index of *sūtras*, index of verses, chapter -wise glossary of technical terms, list of roots in the text and list of verses occurred in *Ācārāṅgacūrṇi* and *vṛtti* (*Śilāṅka*).

Published Editions of Uttarādhyayanasūtra:

1. Text ed. by Jarl Charpentier, Uppsala 1922[with a critical introduction and notes].
2. Translated into English by H. Jacobi, in SBE. Series. Vol. 45.
3. The text with the com. of Lakṣmīvallabha, In: Āgamasaṁgraha, Calcutta 1879.
4. Text with commentary of Jayakīrti (in Gujarati), Hiralal Hamsaraja, Jamnagar 1909.
5. With *niryukti* and commentary of Śāntisūri, Devachand Lalbhai Pustakoddhāra Fund, S., No. 33, 36, 41, Bombay 1916-17.
6. With commentary of Bhāvavijaya, Jaina Atmananda Sabha, Bhavnagar 1917.
7. Vinayabhakti Sunder Charaṇa Text Series, Bena, p. 1940.
8. With Hindi trans., Amolak Ṛṣi, Lala Sukhadeva Sahaya Jwala Prasad, Hyderabad 1919, p. 624.
9. With Sanskrit commentary of Lakṣmīvallabh, Hiralal Hansaraj, Jamnangar 1920.
10. ed. Jarl Sharpentier, Upaśala1922.

11. With commentary of Kamalasaṁyama, Yaśovijaya Jaina Granthamālā Series, No. 46, Bhavnagar 1927.
12. With Nemicandra's *sukhabodhā* in the Ātmavallabha Granthāvali, Valad.
13. With Sanskrit commentary of Jayantavijaya, Agra 1923.
14. With Gujarati trans. Jethalal Hirababa, Jaina Dharma Prasarka Sabha, Bhavnagar 1925-26, p.371.
15. With Sanskrit commentary of Kamalasamyama, Yaśovijaya Jaina Granthamala, Bhavangar 1927.
16. With Sanskrit *avacūri*, Vira Society, Ahmedabad 1932, p. 141.
17. Text, Chotelal, Sinore 1933, p.199.
18. With *cūrṇi*, Ṛṣabahdās Keśarīmal Śvetambar Sanstha, Ratlam 1933, p. 284.
19. With Gujarati trans., Hiralal Hansaraj, Jamnagar 1934.
20. Hindi translation Muni Saubhagyacandra, Śvetambar Jaina Conference, Bombay 1935, p.454.
21. Gujarati trans., Saubhagyacandra, Lakṣmicandra Jhaveracanda Sabarmati, Ahmedabad 1937, p.392.
22. Gujarati version, trans. Gopladas J. Patel, Jaina Sāhitya Prakaśaka Samiti, Ahmedabad 1938.
23. With Hindi commentary, Ātmarama, Jainaśāstramālā Karyalaya, Lahore 1939-42.
24. With Gujarati trans. Guajrat Vidyasabha, Ahmedabad 1952.
25. With Guajrati trans. Jaina Pracya Vidyabhavana, Ahmedabad 1954.
26. Text with Hindi trans. Ghevarcand Banthia, Sethia Pāramārthika Sanstha, Bikaner 1953.
27. Ed. R.D. Vadekar, Furguson College, Pune 1954, p. 128.
26. Ed. Shantilal V. Seth, Byavar 1953.
28. Sanskrit commentary and Gujarati Hindi trans. Muni Ghasilal, Jaina Śāstroddhār Samiti, Rajakot 1959-61, p.2818.
29. With Sanskrit *avacūri*, Devacanda Lalbhai Pustakoddhara Fund, Surat 1960-61, p. 408.
30. With Hindi trans. Ratanalal Doshi, Akhila Bharatiya Sadhu Sangh, Sailana 1962. p. 392.
31. With Hindi trans. Āch. Tulsi & Yuvacharya Mahāprajña, Terapanthi Mahasabha, Calcutta 1967, p. 1076.
32. Hindi comm. Āch.Tulasi & Yuvacharya Mahāprajña, Terapanthi

Mahasabha, Calcutta 1968, p. 544 // Ach. Tulsi & Yuvacharya Mahāprajña, In: *Dharma Prajñapti*, Terapanthi Mahasabha, Calcutta 1970, p.345.

33. Hindi trans. Ach. Tulasi, & Yuvacārya Mahāprajña, Jaina Vishva Bhārati, Ladnun 1975, p.267.
34. With Hindi trans. in verse, JainaViśvabharati, Ladnun1976. p.213.
35. Ed. Muni Puṇyavijaya, Bombay 1977. p.664.
36. With Hindi trans. Ach. Hastimalla, Samyagjñāna Pracharak Maṇdala, Jaipur 1983, p.354.
37. With Hindi trans. Muni Madhukar, Agama Prakashan Samiti, Byavar 1985, p.732.
38. English trans., H. Jacobi, Motilala Benarsidass, Delhi Office, Delhi 1964.
39. Ed. Jinendravijayagaṇi, In: Āgama Sudhā Sindhu vol. 13, Harṣa Puṣpāmṛta Jaina Granthamālā, Lakhabaval 1975, p. 85-200.
40. Ed. Kalyaṇa Ṛṣi, Amola Jñānālaya, Dhuliya 1962-71, p.162. Atmananda Śodha Sansthāna, Hastinapur 1966, p.86.
41. Ed. Muni Kanhaiyalal 'Kamal' Anuyoga Prakasana, Sanderava 1976.
42. With Hindi comm. Ach. Tulasi, Jaina Śvetambar Terapanthi Mahasabha, Calcutta 1967. p.672, 404.
43. With Bengali trans. & notes, Calcutta, University Calcutta 1960, p.16, 461.
44. Hindi trans. by Ach. Chandanā, Sanmati Jñānapeeth, Agra 1972. p.480.
45. ed. Muni Trilokacanda, Jitmala Jaina, Delhi 1951.

Researches based on Canonical texts in general:

1. *Ardhamāgadhī Āgamon Men Ātmatattva kī Avadhāraṇā,* Samaṇī Sambodha Prajñā, Jaina Vishva Bharati (Deemed University) Institute, Ladnun 2002.
2. *Āgama Sāhitya Men Jaina Ācāra,* Ajit Shukdeva Sharma, B.H.U. (Pārśhwanātha Vidyāpīṭha), Varanasi 1969, Unpub.
3. *Āgama Aura Tripiṭaka: Eka Anuśīlana, (D.Litt.)* Muni Śrī Nagaraja, , Pub.
4. *Āgama Aura Kabīra,* Ramesh Candra Sharma, Sup. Dr. Prem Svarup Gupta, Aligarh Muslim University, Aligarh 1982, Unpub.
5. *Bhāratīya Ārthika Vicāradhārā Men Jaina Vicārakon Kā Yogadāna Evaṁ Prabhāva (600 BCE- 1500 CE),* Suparshva Kumar Jain, Ch. Charan Singh University, Meerut 1982, Unpub.

6. *Critical Study of the Monastic and Ascetic Life in Jainism together with Social and Political Life based on Nāyādhammakahāo,* B.V. Moharilla, Nagpur University, Nagpur 1972, Unpub.
7. *Everyday Life in Ancient India as Depicted in Prakrit Literature,* K. Kamala, Osmania University, Hyderabad 1978, Pub.
8. *Epistemology of the Jaina Agamas,* Indra Chandra Sastri, B.H.U.Varanasi 1952, Pub. As *Jaina Epistemology,* Parshwanāth Vidyapeeth S. No. 50, Varanasi 1990, p. 15, 490.
9. *Economic Ideas in Jainism,* Shyamlal Mandawat, Mohanlal Sukhadia University, Udaipur 1972, Unpub.
10. *Economic Life In Ancient India as Depicted in Jaina Canonical Literature,* Dr. D. C. Jain, Magadh University, Bodhgaya, 1978, Pub. Jaina Śāstra, Prakrit & Ahiṅsā Research Institute, Vaishali 1980, p. 22, 162.
11. *Gosvāmī Tulasīdāsa para Āgamon kā Prabhāva,* Dr. Kripa Shaṅkar Shukla, Sup. Hare Krishṇ Avasthi, Lucknow University, Lucknow 1977, Unpub.
12. *History of Jaina Monachism (from inscriptions & literature), S.* B. Deo, Bombay University, Bombay 1952, Pub.
13. *India as described in the Early Texts of Buddhism & Jainism* (D.Litt.) B. C. Law, Lucknow University, Lucknow 1941, Unpub.
14. *Influence of the Agamas on the Rāmacaritamānasa,* Sitaram Saxena, Rajasthan University, Jaipur 1965, Unpub.
15. *Jainägama ke Anusāra Mānavạ Vyaktitva Kā Vikāsa,* Dr. Harindra Bhuṣaṇa Jain, Dr. Harisingh Gaur University, Sagar 1957, Pub. Sanmati Jñānapīṭha, Lohamandi, Agra 1974, p. 15,256.
16. *Jaina, Bauddha Tathā Gītā Ke Ācāra Darśana Kā Tulanātmaka Evaṁ Samālocanātmaka Adhyayana,* Sagarmal Jain, Jiwaji University, Gwalior 1971, Pub. Prakrit Bharatī Academy, Jaipur,
17. *Jaina Aura Bauddha Āgamon Men Nārī,* Dr. Komal Canda Jain, Sup. Dr. Mohan Lal Mehta, B.H.U. Varanasi 1967, Pub. Pārśvanātha Vidyāpīṭha, S.No. 8, Varanasi 1967, p. 35, 269.
18. *Jaina Āgamon ke Dārśanika Cintana Kā Vaiśiṣṭya,* Samaṇī Mangalaprajñā, Jain Vishwabharati, Ladnun 2002, Unpub.
19. *Jaina Āgamon Men Nārī Jīvana, Mrs.* Komal Jain, Sup. Dr. Sushila Pant, Devi Ahalyabai University, Indore ---, Pub. Padmaja Prakashan, Devas, M.P. 1986, p. 16, 264.
20. *Jaina Āgamon Men Śramaṇa, Sādhvī* Caritralata Jain, Rajasthan University, Jaipur, Unpub.

21. *Jaina Āgama Sāhitya Men Śikṣā, Samāja evaṁ Arthavyavasthā,* *Dr.* Umesh Candra Singh, Sup. B.P. Singh, B.H.U., Varanasi 1988, Pub. Lecturer, Ancient History, Central Higher Tibbetan Institute, Sarnath, Varanasi.
22. *Life in Ancient India as depicted in Jain Āgamas,* Jagadish Candra Jain, Bombay University, Bombay 1944, Pub. Thesis and its Hindi Translation as *Jainägama Men Pratipādita Bhāratīya Samāja,* Chowkhamba Vidya Bhavana, Varanasi 1965, p. 20, 620.
23. *Pramukha Jain Āgamon Men Bhāratīya Darśana Ke Tattva,* Sādhvī Suprabha, Devi Ahalyabai University, Indore 1989, Unpub.
24. *Prācīna Jain Sāhitya Men Ārthika Jīvana,* Kamala Prabha Jain, Sup. Prof. Sagarmal Jain, B.H.U. Varanasi 1986, Pub. Pārśhwanātha Vidyāpīṭha S.No. 46, Varanasi 1988, p. 12, 212,
25. *Theory of Karma in Jain Agamas,* Suman Pravinacandra Shah, Bombay University of Mumbi, Mumbai 1983, Unpub.
26. *Ardhamāgadhī Upāṅga Sāhitya Kā Samālocanātmaka Adhyayana,* Rameshcanda Jain, Rani Durgavati, University, Jabalpur.

Researches based on particular canonical texts & commentaries:

27. *Anuyogadvārasūtra:* A study, Kanjebhai Patel, Gujrat University (L.D. Institute of Indology, Ahmedabad. ....
28. *Ācārāṅgavṛtti Kā Samīkṣātmaka Adhyayana, Sadhvi Rajśri,* Sup. Dr. Udai Chand Jain, Mohanlal Sukhadia University, U daipur, 1996, Unpub.
29. *Ācārāṅgasūtra Praṇīta Adhyātmāce, Ālocanātmāka Adhyayana (Dissertation), R.T.* Patil, Sup. SM. Shah, Pune University, Pune 1988, Unpub.
30. *Ācārāṅgasūtra Kā Ālocanātmaka Adhyayana,* Parameṣṭhi Das Jain, Dr. Harisingh Gaur University, Sagar 1960, Pub. Pārśvanāth Vidyāpīṭh, S.No.37, Varanasi. 1987, P. 29, 177.
31. *Ācārāṅgasūtra: Eka Ālocanātmaka Adhyayana, Sunita* Jain, Sup. Dr. AN Sinha, Punjabi University, Patiyala, 1995, Unpub.
32. *Ācārāṅga Kā Adhyayana,* Sādhvī Priyadarsana Śrī, Awadhesh Pratap Singh University, Rewa 1984, Pub. As *Ācārāṅga Kā Nītiśāstrīya Adhyayana,* PV S.No.80,Varanasi 1995.
33. *Āyāro kā Ācāramīmānsātmaka Viśleṣaṇa,* Sadhvi Śubhrayaśā, Sup. Prof. Ashvini Kumar Rai, Jain Vishwabharati, Ladnun 2000, Unpub.

34. *Bhagavatī Men Adhyātma Aura Vijñāna ke kucchaTattva,* Samaṇī Chaitanya Prajñā, Jain Vishva Bharati, Ladnun 1998, Unpub.
35. *Bṛhatkalpa bhāṣya Kā Sānskṛtika Adhyayana,* Mahendra Nath Singh, Sup. Dr. Harihara Singh, BHU, Pub. As PV S.No.
36. *Critical Study of Early Jaina Theory of Knowledge as found in comm. on Nandīsūtra by Malayagiri,* Haranarayana Pandey, Gujarat University, Gujarat 1978, Unpub.
37. *Critical Study of Ācārāngacūrṇi,* Mrs. Vinaben Shah, LD Institute of Indology, Ahmedabad, 1985, Unpub.
38. *Critical Study of the Monastic and Ascetic Life in Jainism together with Social and Political life based upon Nāyādhammakahāo,* B.V. Moharilla, Nagpur University, Nagpur 1972, Unpub.
39. *Critical Study* of Niśīthacūrṇi, Dr. Madhusena, BHU, Varanasi, Pub. Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi.
40. *Jainägama paramparā ke pariprekṣya men Ācārāṅga kā pariśīlana,* Poonamabala Ghildiyala, Lucknow University, Lucknow, 1992, Unpub.
41. *Jñātādharmakathāṅga kā Samīkṣātmaka Adhyayana,* Samaṇī Satya Prajñā, Sup. Dr. Harishankar Pandey, Jain Vishwabharati, Ladnun 2000, Unpub.
42. *Jñātādharmakathāṅga: Eka Sānskṛtika Adhyayana, Anya Aṅga Āgamon Ke Pariprekṣya Men,* Renu Tivari, Sup. Nisar Ahmad, *B.H.U.*, Varanasi 1992, Unpub.
43. *Jñātādharmakathāṅga kā Sāhityika Evam Sānskṛtika Adhyayana,* Mrs. Rajkumari Kothari, Mohan Lal Sukhadia University, Udaipur, Pub. As Parshwanath Vidyapeeth, S.No. 141,Varanasi 2003.
44. *Nandīsūtra kā Jaina Mīmānsātmaka Adhyayana,* Sādhvi Śrutyasha, Sup. Prof. Ashvini Kumar Rai, *Jain* Vishwabharati, Ladnun 1998, Unpub.
45. *Niryukti, Cūrṇi Aura Ṭīkā Ke Ādhāra para Ācārāṅga Kā Pariśīlanātmaka Adhyayana,* Jagadish Narayana Sharma, Bihar University, Muzaffarpur 1974, Unpub.
46. *Philosophical Study of the Sūtrakṛtāṅga,* Ch. Lalitha, Sup. Dr. VVS. Saibaba, Andhra University,Visakhapatanam,1994.
47. *The Picture of Women as depicted in Jñātādharmakathā,* (M. Phil.) Nalini B. Joshi, Sup. Dr. S.M. Shaha, Pune University, Pune 1988, Unpub.
48. *Prajñāpanā kā Samīkṣātmaka Adhyayana,* Mrs. Manju Siroya, Sup.

Dr. Udai Chand Jain, Mohanlal Sukhadia University, Udaipur, 1996, Unpub.

49. *Ṛṣibhāṣita Kā Dārṣanika Adhyayana,* Sādhvi Pramod Kunvar, Sup. Dr. Umesh Chandra Dube, BHU, Varanasi, 1991, Pub. As *Ṛṣibhāṣita Eka Adhyayana,* 2009.
50. *Ṣaṭakhaṇḍāgama men Guṇasthāna Vivecana,* Pramila Jain, Rani Durgavati University, Jabalpur 1984, Pub. Bharatavarṣīya Digambar Jain Mahasabha, Lucknow, --, p. 40, 260,
51. *Sāmāyikaniryukti: Pāṭha sampādana evam Pariśīlana,* Samaṇī Kusuma Prajñā, Jain Vishwabharati, Ladnun1998. Pub. As Āvaśyaka Niryukti (vol. 1), ed. Dr. Samaṇi Kusumaprajña, Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun(Raj.) 200.
52. *Sthānāngasūtra kā Samālocanātmaka Adhyayana,* Parasamani Kheencha, Sup. Dr. Udaichand Jain, Mohan Lal Sukhadia University, Udaipur, Unpub.
53. *Sthānāngasūtra kā Sānskṛtika Adhyayana,,* Nirmal Chordia, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 1997, Unpub.
54. *Studies in Bhagavatisūtra,* J.C. Sikdar, Sup. Dr. Hira Lal Jain, Bihar University, Muzaffarpur 1960, Pub. Prakrit Jain Śāstra Evaṁ Ahinsā Research Institute, Vaishali 1964, P. 24, 658,
55. *Study of Jain Ethical Ideas with Special Reference to Ācārāṅgasūtra,* Veena Jain, Delhi University, Delhi 1977, Unpub.
56. *Upāsakadaśāo kā Samīkṣātmaka Anuśīlana,* Samaṇī Śubhaprajñā, Sup. Dr. Harishankar Pandey, Jain Vishwabharati, Ladnun 2002,
57. *Upāsakadaśāṅga Aura Usakā Śrāvakācāra-Eka Pariśīlana,* Subhash Candra Kothari, Sup. Dr. Premsuman Jain, Mohan Lal Sukhadia University, Udaipur 1985, Pub. Āgama Ahinsā Samara Prakrit Sansthan, Udaipur 1988,p. 12, 243,
58. *Uttarādhyayana: Eka Adhyayana,* Mahesh Prasad Srivastava, Sup. Dr. Sachchidanand Srivastava, Gorakhpur University, Gorakhpur 1988, Pub. As *Uttarādhyayanavke Viśeṣa Sandarbha Men, Śabdapeeth, 743* Moti Lal Nehru Nagar, Allahabad 1991, p.238.
59. *Uttarādhyayanasūtra Kā Śailīvaijñānika Adhyayana,* Amita Prajñā, Sup. Dr. Harishankar Pandey, Jaina Viśvabhārati, Ladnun, 2002, Unpub.
60. *Uttarādhyayanasūtra Kā Samālocanātmaka Adhyayana,* Sudarshan Lal Jain, B.H.U. Varanasi 1968, Pub. As *Uttarādhyayanasūtra Eka*

Pariśīlana, PārśvanāthaVidyapīth, Varanasi 1970, Prof. Sanskrit Department, B.H.U. Varanasi. Its Gujarati translation also published by PV S.No. 134,Varanasi 2001.

61. *Uttarādhyayana Aura Dhammapada Kā Tulanātmaka Adhyayana,* Mahendra Nath Singh, Sup. Prof. Sagarmal Jain, B.H.U. Varanasi 1986, Pub._Viśvavidyalaya Prakaśana, Varanasi 1992. Sr. Lecturer, Ancient History Department, U. P. College, Varanasi.
62. *Upāsakadaśāngasūtra: Eka SamīkṣātmakaAdhyayana,* Amita Jain, Kurukṣetra University, Kurukṣetra, 1998, Unpub.
63. *Vipākasū tra evam usakī Ṭīkā kā Dārśanika evam Sānskṛtika Adhyayana, Fatahlal Jaroli,* Mohan Lal Sukhadia University, Udaipur 1997, Unpub.
64. *Viśeṣāvaśyakabhāṣya Kā Dārśanika Adhyayana,* H.P. Sanghave, B.H.U., Varanasi 1973, Unpub. Jainological Researches Abroad
65. *The Jain Stories in the 6th Aṅga of the Canons of the Jain,* Huttemann, With Im Fredinand, Strasbourg 1907, 51 S. - Auchim Buchh.
66. *Malli- Jñāta: the 8th Section of the 6th Aṅga Nāyādhammakahāo Śvetāmbara - Jain Canon,* Gustav Roth (Mschr.) 1952. Getr. Pag. Munchen, 1952.
67. *Specimine of the Nāyādhamma-kahāo,* P. Steinthal, Berlin 1881, 84 S. Leipzig, 1982.
68. *A Critical Introduction to the Paṇhavāgaraṇa, the 10th Aṅga of the Jain Canon,* Amulya Candra Sen, Wurzburg 1936. 67 S. - Hamburg, 1935
69. *The Aupapātikasūtra: the first Upāṅga of Jain with Introduction, Text and glossary. Ernest Leumann, Leipzig 1882.*
70. *Upon the lastv Fasting in the old Painnā in the Jain Canon,* Kurt, Kamptz. Von.
71. *Sūryaprajñapti and history of the text of Jambūdvīpaprajñapti by Specimen.* Joseph Friedich Kohl, *Bonn 1937. XL II, 18 S. Vollst. Als: Bonner Orientalist Studien. 20. Bonn, 1937.*
72. *The Kalpasūtra: The Old Jain Ascetic Text, Translation, Glossary,* etc., Walther Schubring, Leipzig 1905.

Works on History of Jaina Canonical Literature

1. *A History of the Canonical Literature of the Jainas* (English) by H. R. Kapadia, contains preface, analysis, genesis, classification redaction of the Jaina scriptures, extinct canons of the Jainas, the

canonical comparision and evaluation, their subject-matter, exegetical literature etc. Pub. The Author, Sankadi Sheri Gopipura, Surat 1941, p. 272 (99/E 47).

2. *Some Jaina Canonical Sūtras* (English) by Bimal Charan Law, gives general account of Jaina canonical literature along with treatment ,in detail, of 11 *aṅgas*, first six *upāṅgas*, three *chedasūtras Niśītha, Mahāniśītha* and *Kalpasūtra*, both *cūlikāsūtras*, *mūlasūtras: Āvaśyaka* and *Daśavaikālikasūtras* and *Tattvārthādhigamasūtras*. The work contains an introduction by E. J. Thomas. Pub. Bombay Branch of Royal Asiatic Society, Bombay 1949, p. xv, 213 (99/E 213) (99/E 49).
3. *Jaina Āgama Sāhitya Manana Aura Mīmānsā* (Hindi) by Āch. Devendra Muni Shastri, is a panoramic study of Jaina canonical literature with comparative study of relevant Buddhist and Vedic texts. It deals with importance of Jaina canons, *Aṅga, Upāṅga, Mūla, Cheda, Cūlikā, Prakīrṇaka* texts, exegetical literature: *niryukti, bhāṣya, cūrṇi, ṭīkās, Digambar* literature and comparative study anthologies, glossary etc. Pub. Taraka Guru Jaina Text S. No. 71, Udaipur 1977, p. 44,768.
4. *Jaina Āgama Sāhitya: Eka Anuśīlana* (Hindi) by Muni Jayantasenasūri, deals with the classification, date of composition, nomenclature, order of composition, canons in Digambar tradition, subject - matter of Jaina canons and exegetical literature. It also presents a survey of society, polity, economic conditions and religion as depicted in Jaina canons. Pub. Raja Rajendra Prakashan Trust, Rajendra Suri Jñāna Mandira, Ratana Pole, Hathi Khana, Rajendra Suri Chowk, Ahmedabad 1994, p. 60, 240.
5. *Jaina Āgama Sāhitya* (Hindi- English) ed. K R Chandra is a collection of 30 important articles related with various aspects of Jaina canons. Pub. Prakrit Jaina Vidya Vikasa Fund, 375, Sarasvati Nagar, Ahmedabad 1992, p. 304.
6. *Jaina Upāṅga Sāhitya: Eka Anuśīlana* (Hindi) by Devendra Muni Pub. Tarakaguru Jaina Library, Sastri Circle, Udaipur.
7. *Jaina Mūla Āgama Sāhitya: Eka Pariśīlana* (Hindi) by Devendra Muni, Pub. Tarakaguru Jaina Library, Shastri Circle, Udaipur.
8. *Jaināgama Digdarśana* (Hindi) by Muni Dr. Nagraj, gives short-sketch of Śvetambar Jaina canons and exegetical literature. Pub. ed. Muni Mahendra Kumar 'Prathama' Rajasthan Prakrit Bharati Samsthan, Jaipur 1980, p. 193 (99/H 804).

9. *Prakrit Aura Usakā Sāhitya* (Hindi) by Hardeo Bahari gives a brief sketch of the prominent works of Prakrit, i.e. canonical and Non-canonical literature, Prakrit Kāvyas, dramas etc. It also contains a few maxims with their Hindi translation. Pub. Rajkamal Prakashan, Delhi 1984 (40/H 74).
10. *Pāiya Bhāsāo Ane Sāhitya* (Gujrati) by Hiralal Rasikadasa Kapadia, divided into two parts, Prakrit language and its literature. It gives the content of Prakrit dialects. Pub. Vinayacandra Gulabcandra Shah, Bhavnagar 1950, p. 252, (40/G 24).
11. *Prakrit Sāhitya Kā Itihāsa* (Hindi) by Jagdish Chandra Jain, divided into eleven chapters, it deals with the evolution of languages, classification of Prakrit dialects, Śvetambar and Digambar canonical literature, exegetical literature and other selected texts in Prakrit, in first four chapters. The fifth chapter is devoted to Prakrit literature (5th-10th cent. CE), the sixth to Prakrit narrative literature (4th- 17th cent. CE), the 7th and 8th chapters to *carita kāvyas* and kāvya literature in Prakrit (1st to 17th cent. CE). The 9th - 11th chapters deal with Prakrit dialects in Sanskrit drama, Prakrit *saṭṭakas,* Prakrit works in grammar, prosody, rhetoric, astrology, poetry etc. several topics. Pub. Chowkhamba Vidyabhavan, Raṣtra Bhāṣā Text S. No. 82, Varanasi, Ed 2nd 1985, p. 667.
12. *Prakrit Aura Usakā Sāhitya* (Hindi) by Dr. Mohan Lal Mehta, Pub. Bihar Raṣtrabhāṣā Pariṣad , Patna 1966, p. 26.(40/H 132).
13. *Prakrit Bhāṣā Aura Sāhitya Kā Ālocanātmaka Itihāsa* (Hindi) by Nemicandra Sastri (40/ H 104).
14. *Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa* (Hindi) in 7 volumes.

a. Vol. 1, by Pt. Bechardas Doshi, divided into twelve chapters (*prakaraṇas*), it deals with the content and other details of12 Añga texts. The volume contains an exhaustive and learned introduction by the author on redaction, composition, language, date, volume, etc. of canons, in general. It has also three appendices. Pub. Parshwanath Vidyapeeth, S.No.6, Varanasi, Ed. 2nd 1989, p.16,330,
b. Vol. 2.by Dr. Jagdish Chandra Jain & Dr. Mohan Lal Mehta deals with *aṅgabāhya* texts: twelve *upāṅgas*, four *mūlasūtras*, six *chedasūtras*, two *cūlikāsūtras* and ten *prakīṃakas*. Pub. Parshwanath Vidyapeeth, S.No.7, Varanasi, Ed. 2nd 1989, p. 18, 368.
c. Vol. 3.by Dr. Mohan Lal Mehta, entitled '*Āgamika Vyākhyā Sāhitya*' treats of exegetical literarure of Śvetambar canons i.e.

niryuktis, bhāṣya, cūrṇis, Sanskrit commentaries and those in Vernacular languages. The works have been treated in chronological order, clubbing all the works of an author together. Pub. Parshwanath Vidyapeeth, S.No.11, Varanasi, Ed. 2nd 1989, p. 8, 510.

15. *On the literature of Śvetāmbaras of Gujarat* (English) by Johannes Hertel, throws light on the extensive literature of the Śvetāmabars. As the subject treated in are very multifarious, the author emphasizes the necessity of its publication and draws the attention of the scholars towards it. Pub. Yaśovijaya Jaina Text Bhavnagar, 1922, p. 26. (40/E 1).
16. *Jainas in the History of Indian Literature* (English) by Maurice Winternitz, gives bare outlines of epics, great epics, narrative literature, lyrical, dedactive, scientific, technical and philosophical works of Jaina tradition. Pub. Jaina Sāhitya Sanśodhaka, S. No 2, Pratiṣṭhāna, Ahmedabad 1946, p. 62,(99/E28).
17. *Jinist Literature* (English) by M. Winternitz, PO ,Vol. 2nd 1937-38, p. 42.
18. *Jaina Sāhityano Sañkṣipta Itihāsa* (Gujrati) by Mohanchand Dalichand Desai, divided into seven parts, presents in chronological order, sketch of Śvetāmbar Jaina literature from the age of Mahavira up to 1900 CE. Jaina Śvetāmbar Conference, Bombay 1933, p. 146, 147, 1080 (40/G1).
19. *Jaina Sāhitya Kā Itihāsa* (Hindi), Pub. Jñānamandira Tha. Narasinghji Pole, Vadodara (SGN 83).
20. *Sāhitya Paricaya,* Osawala Press, 186 Cross Street, Kolakata (99/H 126).
21. *Bhāratīya Bhāṣāon Ke Vikāsa Aura Sāhitya Kī Samṛddhi Mne Śramaṇon Kā Mahattvapūrṇa Yogadāna* (Hindi) by K.R. Chandra (40/H 472).
22. *Digambar Jaina Bhāṣā Granthaha Nāmāvalī* (Hindi) comp. Babu Jñānacanda Jaini, Pub. Digambar Jaina Dharma Pustakalaya, Lahore 1901, p. 28 (PJS 169)
23. *Jaina Literature in English* (English) by Jyoti Prasad Jain (PJS 294)

Bibliography:

1. Prof. Sagarmal Jain & Dr. A P Singh (comp.) *Doctoral Dissertations in Jaina & Buddhist Studies,* PV Series No.30, Varanasi 1930.
2. Dr. Kapoor Chand Jain, *Bibliography of Prakrit and Jaina Research,* Kailash Chand Jain Memorial Trust, Khatauli, 3rd revised Ed. 2004,

3. Pt. Bechardas Doshi *Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa* (Hindi) Vol.1 (*Aṅga Āgama*), Parshwanath Vidyapeeth S.No.6, Varanasi, Ed. 2nd 1989.
4. Dr. Jagdish Chandra Jain & Dr. Mohan Lal Mehta, *Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa* (Hindi) Vol. 2 (*Aṅga Bāhya Āgama*), Parshwanath Vidyapeeth S.No.7, Varanasi, Ed. 2nd 1989.
5. Dr. Mohan Lal Mehta, *Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa* (Hindi) Vol. 3 *(Āgamika Vyākhyā Sāhitya)* Parshwanath Vidyapeeth, S.No.11, Varanasi, Ed. 2nd 1989.
6. *Dravyānuyoga* (Text and Hindi Translation) ed. Munisri Kanhaiya Lalji 'Kamala', Guru Fateh Pratap Memorial Āgama Anuyoga Series-8, Āgama Anuyoga Trust, Ahmedabad 1995.

****

Concept of Substance, Quality and Modes in Indian Philosophy with special referance to Jainism

Dr. Shriprakash Pandey

This article deals with Concept of Dravya, Guṇa and Paryāya in Indian philosophy in general and Jainism in particular. The different meanings of the term dravya, definition and characteristics of dravya in Indian system of philosophies, general and specific attributes of substances, characteristics of qualities, its types, relation between qualities and substances, relation between quality and modes with special reference to Siddhasena Divakara, concept of mode, its type, relation between substance and modes relation among substance, qualities and modes have been dealt in comparatively on the basis of ancient texts. It also includes the observation of modern scholars on the topic. The paper has cited the ancient texts frequently.

-Editor

Substance (*dravya*), quality (*guṇa*) and modes (*paryāya*) are the terms widely discussed in Indian philosophical systems, in one form or other, in their respective metaphysics.

The Prakrit-Pāli word '*davva*' and its Sanskrit equivalent '*dravya*' are very old. The various meanings in which the term is used in every day parlance in poetry, in grammatical texts, in medical texts, in philosophical texts, etc. appear to have been conventionally assigned to it long ago.

In Jain tradition also the term *dravya* has been used in different contexts connoting different meanings. In connection with the division of positing (*nikṣepa*[1]) into appellation *(nāma*), representation (*sthāpanā*), substance or potentiality (*dravya*) and actual state (*bhāva*); with regard to the aspects of substance (*dravya*), field of locus *(kṣetra)*, time (*kāla*), state of mode *(bhāva*), etc.; with relation to the point of view *(naya)* into substantial (*dravyārthika)* and modal

(paryāyārthika) ; the conduct- external*(dravyācāra*), internal *(bhāvācāra*), etc. and the *karma* as material *(dravyakarma)* and psychic *(bhāvakarma)* etc., the Jain texts use '*dravya*' in different sense in each context.

Characteristics of Substance

Substance (*dravya*) is the crux of the Jain metaphysics. In Jainism the term *sat, dravya* and *tattva* are used as synonyms. *Dravya* in Jain philosophy represents, in general, an entity or object. Jainācārya Umāsvāti (3nd cent. CE) in his *Tattvārtha-sūtra* says[2] that substance/ *dravya* is the characteristics / indicator of existent reality . What is real is substance. What is reality / *sat*? He says[3] that reality constitutes origination, destruction and permanence. That is all objects / entities in this cosmos, whether sentient or insentient, are inherent with origination-destruction-permanence characteristics and these three take place simultaneously. New form of an entity is its origination; giving up its old state is destruction and the continuation of the nature of the substance is permanence. For example, destruction of the state of milk results in origination of the state of curd and the continuation of its being dairy product i.e. a bye product of cow's milk, for use by us, continues as its existence. This way each and every entity in this cosmos goes through origination-destruction-permanence continuously at every moment. Hence all these entities are termed as substance and are real /*sat.*

The term *'dravya'* is defined in Jain philosophy in the sense of fundamental entities or reals (*ṣaḍdravyas*)-medium of motion *(dharmāstikāya*), medium of rest *(adharmāstikāya*), space (*ākāśastikāya*), soul *(jīvāstikāya*), matter *(pudgalāstikāya)* and time (*addhāsamaya* or *kāla*). In Jainism there are two classes of substance: sentient *(jīva)* and insentient (*ajīva*). Insentient comprising matter (*pudgala*), the fulcrum or medium of motion (*dharma*), the fulcrum of rest (*adharma*), space (*ākāśa*) and time (*kāla*).

According to *Dhavalā,* comm. of *Ṣaṭkhaṇḍāgama,* the term *dravya* denotes also the 'flowing' (continuing), 'essence', etc. In the essence which flows, flowed and will flow in present, past and future *(trikāla),*

respectively by attaining modifications, without abandoning its own exclusive characteristic, absent in other substances(*dravyas*).

In Sāṁkhya philosophy, the word *dravya* stands for *Prakṛti-Puruṣa,* in Cārvāka for four primordial elements- earth, water, air and fire, essential for evolution. In Nyāya-Vaiśeṣika system it stands for the substratum of qualities and action (*guṇa-karma-ādhāra)* which is of nine types: earth, water, fire, air, ether (or space), time, direction, soul and mind. In the ancient Jaina Āgamas like *Uttarādhyayana,* etc. the term *dravya* is also found to have been used in the very sense of '*Guṇānām āsavo*'[4] or substratum of qualities/attributes and also as '*Dravyam hi guṇānām samudāyaḥ*'[5] or clusters of attributes. However, *Uttarādhyayana,* in one of its previous verse says that it is knowledge which knows substance (*dravya)* , quality (*guṇa*) and modes (*paryāya*).[6] Patañjali, the author of *Mahābhāṣya,* used the term *dravya* in the said sense. To quote his words, 'we can break a jar and make a bowl instead, or vice-a-versa and we can break a bangle and make the ear-ring or vice-a-versa. But in the first case what persists in the midst of changing forms like jar, bowl, etc. is clay and in the second case what persists in the midst of changing forms like bangle, ear-ring etc., is gold. This clay in the first and gold in the second case is called Reality-substance (*tattva-dravya).* Vyāsa in his commentary on *Yogasūtra* and Mīmāṁsaka Kumārila Bhaṭṭa also in his *Ślokavārtika,* give similar interpretation of the term *dravya.* Vyāsa explains with an illustration thus: 'We have to understand the three-fold mutation -of external aspects, of time-variation and of intensity-in the case of elements, organs, because there is distinction between the substance and external aspects. But in the strict sense there is a single mutation. For the external aspects (there) is nothing more than the substance itself. It is merely an evolved form of the substance amplified in the form of the external aspects. In such cases there is within the substance an alteration of the condition of present external aspect with regard to past,future and present time forms. There is no alteration of the matter. Just as dividing a plate of the gold there is an alteration of its condition, so

as it is altered but there is no alteration of gold. At some other places Patañjali[7] explains the term '*dravya*' as an aggregate of qualities (*guṇa-samudāya*) or a stream of qualities (*guṇa-sandrāvaḥ*).

The interpretation of *dravya* as 'that whose basic character (*maulikatva*) remains unimpaired even in the midst of the emergence of newer and a newer quality is *dravya'*, suited to Buddhist line of thought because to them, as held by Vasubandhu and Śāntarakṣita[8] 'whatsoever exists with own characteristics is substance'. 'Inherence of qualities is not in the substance'; all real elements, being equally independent in this regard, become substances *sui generis* as separate entities. On account of their fundamental thesis of non-substantialism *(anātmavāda)*, the Buddhists don't recognize the Vaiśeṣika distinction of *padārthas* as substance, qualities, action (*karma*), etc., but reduces all things to the status of *dharmas,* i.e. unique momentary ultimate elements. It is, therefore, the term *dravya* is conspicuous by its absence from the Pāli *suttas* and even from the *Abhidharma.* In the Vaibhāṣika School, however, it almost replaces the Buddhist term '*dharma'*. Here all real *dharmas* are called *dravya.*

All these interpretations of *dravya* given by *Mahābhāṣya, Vyāsabhāṣya, Ślokavārtika* are available in Jain tradition. Used first time by Umāsvāti in *Tattvārtha-sūtra*[9] and in auto-commentary there on. The evolution of the conception of *dravya* coincides with the development of the Jain metaphysical thought in corresponding period. In *Sarvārthasiddhi*[10], *Tattvārtha-rājavārtika* and *Tattvārtha-ślokavārtika,* of Digambara tradition, it is explained that 'existence (being or *sat*) is the differentia of a substance, i.e. that which exists is a substance. What the term 'existence' and 'substance' mean? With regard to the problems- the concept of existence (*sat*) and definition of substance both in the Digambara and Śvetāmbara views are one and the same. To both, 'existence is characterized by origination, destruction and permanence' and 'that which has qualities and modes is a substance.[11] The Digambara idea of differentia of a substance is found in the *sūtra* '*ṣaḍ-dravyalakṣaṇaṃ*'[12] and also in *sūtra* '*utpādavyayadhrauvyayuktaṃ sat'* representing both Digambara

and Śvetāmbara views on the conception of substance. Only this concept has been made clearer by the *sūtra 'sat-dravyalakṣaṇaṃ'*.[13] Jinabhadragaṇi made a veritable catalogue of all the interpretations of the term '*dravya*' prevalent during his time and explained the etymology of the word.To quote his words, *'davaye duyate doravayavo vigāro guṇāṇasaṁdāvo / davvaṁ bhavvaṁ bhāvassa bhūva bhāvaṁ ca joggaṁ.'*'[14]

Āc. Hemacandra while enunciating the nature of object of *Pramāṇa* in the words of Akalaṅka[15], employs the term '*dravya*' in the sense of something permanent or static (*dhruvabhāva*[16], *śāśvata, sthira*) which is in agreement with its interpretations made by the *Āgamas,* grammatical texts and other Indian systems of thought. The etymological derivation which he suggests in this connection is the one that has been offered in the *kṛt* section, viz. *dru* + suffix *ya*.[17]

Āc. Kundakunda also explains that *dravya* is the inherent essence of all things, manifesting itself in and through infinite modifications, and is endowed with *guṇa-* capacities or qualities and reveals permanence, change, inherent therein to be real.[18] *Dravya* is endowed with its unchanging nature of existence.

Āc. Pūjyapāda defines thus, 'that which undergoes modification is substance. This modification takes place in the same way as the original lump of gold undergoes modification having its original form destroyed (*vyaya*) and a new form born (*utpāda*) but the substance gold continues or persists (*dhrauvya)* in this process of change. Thus, *dravya* endowed with quality and modes is conceived as Reality. For every substance possessing the quality of permanency (*dhrauvya*) consists in the persistence of its fundamental characteristics throughout its various modifications. *Sat* is the characteristic of *dravya* and origination, decay and permanence characterize Reality-*sat-dravya.* Thus, *dravya* means destruction modification or state) and decay (*vyaya)* and permanency *(dhrauvya*).

General and specific attributes of Substance[19]

In Jainism, each substance has infinite attributes. Some attributes

are generic in nature i.e. found in more than one substance types, while the others are termed specific or unique to a particular substance type. Generic attributes, found in all substances, be they sentient or insentient are as follows:

--Existence / eternal existence (*astitva*) i.e. by its virtue the substance exists forever and can be neither created nor destroyed.

--Causal efficiency or functionality (*vastutva)* i.e. every substance is capable of performing a purposeful action (*artha-kriyā*)

--Substantiveness or fluency or persistence *(dravyatva)* i.e. due to this attribute the substance keeps on changing e.g. the ocean keeps on changing its modes by having waves at every moment but it always stays as ocean.

--Objectivity or measurability (*prameyatva*) i.e. by its virtue a substance can become an object of knowledge.

--Extension in the space/ occupying space or some sort of form (*pradeśatva)* i.e. by virtue of this attribute a substance can occupy space and have some shape / form.

--External persistence or identity / essence / invariance (*agurulaghutva*) i.e. an attribute which prevents the substance and its attributes from leaving its substancehood or attributes, e.g. sugar even if mixed with poison does not leave its nature of being sweet.

Generic attributes which are found in more than one substance types:

--Insentient e.g. matter, space, time etc. except living beings.

-Characterized by existence, endowed with qualities and mode or

Attributes, specific to a particular substance type are as follows:

-- Jīva: knowledge, intuition, conduct, bliss, energy etc.
-- *Pudgala:* touch, taste, odour, colour or from etc.
-- *Dharma:* supports motion
-- *Adharma:* supports rest
- ākāśa: provides space to stay / exist.
- Kala: supports change / transformation

Characteristics of Quality/Attributes (guṇa)

In Jain *Āgamas,* generally we get the use of terms *dravya* and *paryāya.* At few places there is mention of *guṇa* but it does not connote its

real meaning used in the context of substance. In *Ācārāṅga-sutra,* mention of *guṇa* -- '*je guṇe se āvaṭṭe, je āvaṭṭe se guṇe* [20] is in the sense of subject. '*Guṇa*' denoting capacity or quality of *dravya* occurs as a distinct category along with *dravya* and *paryāya* in *Vyākhyāprajñapti, Uttarādhyayana* and *Anuyogadvāra-sūtra.* Its definite conception is found in *Tattvārthādhigamasūtra* of Umāsvāti and other Indian texts. With the development of the metaphysical thought the conception of qualities was made clearer by the later Ācāryas. *Uttarādhyayana* mentions *dravya* as the substratum of qualities and the characteristic of *guṇa* is that guṇās are inherent in one single substance. Āc. Kundakunda, Umāsvāti and Pūjyapāda adopt the same meaning and justify this adoption of meaning as well. Umāsvāti holds that *guṇas* are inherent in *dravya* and they are themselves attributless (*nirguṇa guṇāḥ*)[21] i.e. those which have substance as their substratum and which are not themselves the substratum of other qualities. It means quality or qualities cannot be substratum of other qualities. Above definition seems to be contradictory, but it underlies that if we consider quality of quality, we will land in fallacy of infinite regress. If the inherent quality in the substance possesses other qualities, it will appear itself as a substance-substratum in turn to possess a quality. For this reason *guṇas* has been defined as that which are inherent in a substance and are not themselves the substratum of other qualities. Qualities are inherent in substance but the quality in itself is bereft of any quality. Pūjyapāda also defines *dravya* as '*dravyāśrayā nirguṇā guṇāḥ*' i.e. 'those which have substance as their substratum and which are not themselves the substratum of other qualities, are qualities. The qualification without quality is intended to exclude molecules of two atoms etc. These molecules have got for their receptacle the atoms which constitute these molecules; these, however, possess qualities. Therefore, these have been excluded by the qualification "without qualities". Pūjyapāda adds that some are of the opinion that modes like pitcher also have substance as their substratum and are without qualities. So qualities would apply to these modes also. But it is not so. Substance as substratum *(dravyāśraya)* implies that

quality or qualities reside permanently in substance because of the qualifying word permanently understood.

Akalaṅka also gives the same view when he says, '*nityaṁ dravyāśritvaṁ ye vartante te guṇā iti.*" Vidyānanda also follows Pūjyapāda and Akalaṅka. Definition of *guṇa*, as found in *Uttārādhyayana* and *Tattvārthādhigama* and as interpreted by different Ācāryas confirms that *guṇas* inhere or exist permanently in the substance and they do not possess other qualities. *Paryāyas* on the other hand, inhere in *dravya* but they do not exist there permanently because of being subject to origination and decay. This is the fundamental difference between *guṇa* and *paryāya* i.e. these are respectively essential and accidental characters or potentiality and actuality in substance.

The *dravya* may significantly be said to possess different *guṇas* at different times, while itself persisting through time as an indefinite subject with a whole series of different *guṇas* inhering in it.

The Nyāya school, however, maintains that substances, just at the moment of their creation, are devoid of qualities which come to be intimately related with them later by relation of inherence (*samavāya*)[22].

According to Āc. Kundakunda the condition , in fact, forming the nature of *dravya* is *guṇa* . It is non-different from its initial existence. To him the condition which, in fact, forms the nature of *dravya,* the existing entity established in its nature is *dravya.* It means that the nature (*svabhāva*) stands for transformation (*pariṇāma*) and the nature which is thus of the form of transformation *(pariṇāma*) is *guṇa* which in its turn, is non-different from *sat,* (substance) *dravya.*

Division of Quality

Divided into two, i.e. general (*sāmānya*- ten in numbers[23]) and particular (*viśeṣa*-sixteen in numbers[24]), the *guṇas*, found in all substances are general in nature. These *guṇas* help in proving substanceness of substance (*dravyatva* of *dravya*). The particular *guṇas* help in proving specificness of substance. For example,

consciousness is found only in *jīva-dravya* and not in other five substances. Kundakunda gives another classification of *guṇa* as with form (*mūrta*) an formless (*amūrta*) also. The qualities of corporeal matter-substance (*mūrta dravya*) such as form, taste, smell, touch, etc. are *mūrta-guṇas* and the qualities of the non-corporeal soul, such as consciousness, knowledge, self-awareness, conduct, bliss, energy, etc.are *amūrta-guṇas.*

The Indian philosophical schools, other than Jainism, have also given serious thought to the concept of *guṇa* and its relation with *dravya* and *paryāyas.* The Nyāya-Vaiśeṣika school defines *guṇa,* its characteristics and classification in the same manner as that of Jains. According to Vaiśeṣika-sūtra 'the definition of *guṇa* is that *guṇas* are inherent in substance-substratum (*dravya*) and they are themselves attributless and actionless. *Praśastapādabhāṣya* is clear on the definition of *guṇa* and mentions relatedness to quality or capacity (*guṇatvābhisaṁbandha*), inherence in substance *(dravyāśritatvaṃ*), qualitylessness (*nirguṇatvaṃ*) and actionlessness (*niṣkriyatvaṃ*) are the common features of all qualities like colour, etc. It is explained on the basis of this conception of *guṇa*, colour, taste, smell, touch, priority and posterity, heaviness (weight), liquidity, adhesiveness (or cohesiveness) and velocity are *mūrta-guṇas. Mūrta-guṇas* are qualities belonging to non-ubiquitous substance, while intelligence, pleasure and pain, desire, effort, thoughts on merit and demerit and sound are *amūrta-guṇas*, i.e. qualities belonging to ubiquitous substances.

Number, dimension (*pariṇāma*), separateness, conjunction and disjunction are *ubhayaguṇas*, i.e. these are both *mūrta* and *amūrta-guṇas*, as they belong to both non-ubiquitous and ubiquitous substances. It culminates that the influence of the Nyāya-Vaiśeṣika system with regard to the definition of attribute *(gūṇa)* and its classification into *mūrta*-and *amūrta* is evident in Jain works like *Uttarādhyayana, Tattvārthādhigama, Pravacanasāra* and the later works-*Sarvārthasiddhi, Tattvārtha-Rājavārtika* of Bhaṭṭa Akalaṅka and *Tattvārtha-ślokavārtika* of Vidyānanda.

Sāṁkhya system of philosophy enumerates *guṇas viz.* essence *(sattva),* energy *(rajas)* and mass or inertia (*tamas*) as the components of Prakṛti- the primordial matter of nature, which cannot be discriminated from them. Prakṛti is also non-discriminated, objective, general, non-intelligent and productive. It is explained that these *guṇas are of the nature of pleasure, non-pleasure* and pain, respectively. They mutually suppress, support, produce, consort and exist. When *sattva* is prominent, then it is so by suppressing *rajas* and *tamas* with its characteristics-pleasure and illumination and it exhibits itself as pleasure and illumination. When *rajas* is pre-dominant, then it is so (by suppressing) *sattva* and *tamas* with the characteristics of pain and activity. When *tamas* is pre-dominant *then it is (by suppressing) sattva* and *rajas* with its characteristics of delusion and fixture. The qualities are mutually supporting like a binary (*dravyaṇuka*). They are mutually productive, as a lump of clay produces jar and are mutually consorting as husband and wife are mutually consorting, so are the qualities.

It is further explained thus: *'Sattva* is considered to be light and bright, *rajas* exciting and mobile and *tamas* is only heavy and enveloping. When *sattva* becomes pre-dominant, the limbs become light, the intellect becomes bright and the organs become clear (i.e. acute).' 'Just as a bull is very much excited at the sight of another bull, so as the nature of *rajas* which is observed to be mobile. A man of the nature of *rajas* is fickle-minded. When *tamas* becomes pre-dominant, the limbs become heavy and the organs become enveloped (i.e. dull)-incapable of apprehending their objects'. 'Their function is considered to be aiming to achieve a common end. Just as lamp composed of oil, fire and the wick, opposed to one another, illuminates objects, so *sattva, rajas* and *tamas,* although opposed to one another, produce an effect.

On the conception of *guṇas,* Dr. S. N. Dasgupta remarks, 'In Sāṁkhya, there is no separate existence of qualities, i.e. no inherence of qualities in a substance as they are found in the Jain philosophy and the Nyāya-Vaiśeṣika school, but it holds the view that each and

every unit of quality is but a unit of a substance. He maintains that the ultimate entities in Sāṁkhya philosophy are called *guṇas - sattva, rajas* and *tamas.* These entities manifest themselves as *guṇas* by their various modifications. The fundamental ideas formed in the Sāṁkhya system sometimes unconsciously affected all later constructions. Mind stuff (*sattva*),energy-stuff *(rajas*) and mass-stuff *(tamas)* -the fundamental entities, as interdependent moments are very real and substantial existence have found affection in the Buddhist concept of three elements (*dharmas*), viz. mind (*citta*), forces (*saṁskāras*) and matter (*rūpa*), respectively. In the *Vijñaptimātrasiddhi* Vasubandhu actually equated the Buddhist term '*dharma*' with the Sāṁkhya's term *guṇa.* 'You maintain the realities are *guṇas,* we say they are *dharmas.*'[25] According to Stcherabatsky, 'to every unit of quality there is corresponding subtle element (*dharma*) which either directly manifests itself or according to Sarvāstivādins remaining forever a transcendental reality, produce a reaction (*kāritva, lakṣaṇa*) which we wrongly interpret as being a quality.'

Vaibhāṣikas admit the objects of five senses, viz. colour, shape, sound, odour, taste and tangible as substantial entities not as inherent in the substance, just as they are admitted in Nyāya-Vaiśeṣika system. According to this view, it should be said ' earth is odour' instead of saying earth has odour, etc. The same principle is applied to the mental sphere; there is no spiritual substance apart from mental elements or faculties that are conceived as subtle realities or substances *sui generis,* very much on the same pattern as the elements of matter. There is no soul apart from feeling, ideas, volitions, etc.

Relation between Qualities and Substance

Generally, we meet three currents of thought in Indian philosophy with regard to the relation between qualities and substance viz. (i) doctrine of Identity (*abhaedavāda,* (ii) doctrine of difference *(bhedavāda*) and(iii) doctrine of identity-cum-difference *(bhedābhedavāda).* On the basis of the definition of *sat,* Dr. Y. J. Padmarajiah[26] divided Indian Philosophy into five classes:

1. The philosophy of being or identity.
2. The philosophy of becoming (change) or differences.
3. The philosophy subordinating difference to identity.
4. The philosophy subordinating identity to difference.
5. The philosophy coordinating both identity and difference.

The Vedānta as the school of identity *par excellence* and Buddhism as that of difference *par excellence* respectively represent the first and class second. The Sāṁkhya, the *bhedābhedavāda* (of Bhartṛprapañca, Bhāskara, Yadava and Nimbārka) and the *Viśiṣṭādvaitavāda* (of Rāmānuja) figure under the classe third. The Vaiśeṣika and Dvaita (of Madhva) systems come under the forth type.[27] Jainism is described in fifth category.

Nyāya-Vaiśeṣika school is regarded as *bhedavādī* as they establish the relation between *guṇa* and *dravya* as of difference. To them the substance like earth, water, fire, air, space, direction, time, soul, etc., are substantive entities between *guṇa* and the qualities such as, colour, taste etc., inhering in material things and knowledge etc. inhering in the soul-substance.

The Vedānta philosophy of absolute monism, being the advocate of the doctrine of identity between Reality (the Brahman) and its capacity holds the view that there is an identity between Brahman and absolute intelligence and absolute bliss or between the self and the self-luminous pure consciousness. For it is only self, not the object of any knowledge and is yet immediate and ever present in the consciousness. No one can doubt about his own self, because it itself is manifested along with all the states of knowledge. Thus real self is identical with the pure manifesting unity of all consciousness i.e. Brahman.

Sāṁkhya advocates somehow identity-cum-difference (*kathañcit-bhedābheda*) in the relation of primordial matter (Prakṛti) and with its three qualities, viz. *sattva, rajas* and *tamas*. These three qualities are constituents of Prakṛti, not only to be discriminated but also not inherent in it. Patañjali raised the question whether *dravya* is different

or non-different from *guṇas* like-sound (*śabda*), touch (*sparśa*), etc. After examining both the aspects he finally, supported the doctrine of identity-cum-difference.

The Buddhists deny the existence of substance but accept elements (*dharmas*) which correspond to *guṇas- sattva, rajas,* and *tamas* of the Sāṁkhya. They deny the very difference between the categories of substance and qualities. There is no inherence of qualities in substances; in this respect all real elements are equally independent. As separate entities they then become substances s*ui generis.*

Jains propounded the distinction between *dravya* and its *guṇas,* partly in order to mark the logical difference between ultimate subject of knowledge or judgment and partly also to answer puzzles about change and identity of permanence-in-change.

Jains, maintain the doctrine of identity-cum-difference with regard to the relation between *guṇa* and *dravya.* In accordance with the Nyāya-Vaiśeṣika, they established the relation of inherence of *guṇas* in *dravya* as revealed in the definition given by *Uttarādhyayana*[28] and Umāsvāti[29]. But they hold that *dravya* and its *guṇas* are not separate entities like those of Nyāya-Vaiśeṣika school, these are intrinsically related, though somehow different.

Kundakunda maintains that the relation between these is one of coeval identity, unity, inseparability and of essential simplicity, but not of union or combination. Thus the relation between *guṇa* and *dravya* is of identity-cum-difference, e.g. colour, taste, smell and touch of the ultimate atom (*paramāṇu*) and their material substratum, though being distinguishable with regard to appellation, form, etc. Similarly, in the case of soul the qualities of self-awareness and knowledge are inseparable from, though they may be said to be distinct from the substratum by the points of view of name etc. Pūjyapāda maintains somehow distinct relation (*kathañcitbhedābheda)* between *dravya* and *guṇa* and while explaining the aphorism '*guṇaparyāyavat dravyaṃ*'[30] defines that '*dravya*' is somehow different from its *guṇas* and *paryāyas.* Hence the suffix '*matup (vat)*' denoting possession is

used here. He adds that those characteristics, always associated with a substance are qualities and those, not associated are modes. A substance possesses both. Thus, that which makes distinction between one substance and another is called a quality. Further it is of inseparable connection and permanent. If such distinguishing characteristics were not present, it would lead to intermixture or confusion of substance. He further clarifies that the collection of qualities and modes, which is somehow considered different from these, is called substance. If the aggregate were completely the same, it would negate both substance and qualities. Therefore, those who admit substance as the cluster of qualities must also admit that the cluster of qualities is also somehow different from the qualities.

Akalaṅka, while adhering to Pūjyapāda on the relation between *dravya* and its *guṇa* says that 'although qualities and modes are non-different from *dravya*, still there is some difference with regard to its characteristics, etc. e.g. there is somehow difference in the golden ring in spite of there being non-difference between gold and ring. Siddhasena Gaṇi also advocates the view of identity-cum-difference between *guṇa* and *dravya.*

Relation between Quality/attribute and modes

Guṇas are a quite usual feature of Vaiśeṣika system; the notion of *paryāya* is peculiarly Jain, though seen in its popular sense in later Nyāya works.[31] In early works the notion of *guṇas* is very simple; *guṇas* stand, to generalize from the illustrations, for the essential differentia of a thing; but in many later works the doctrine has been much more elaborated possibly after the manner of the Vaiśeṣika system.[32]

Those properties (*dharma*), peculiarities (*viśeṣa*) and states (*avasthā*) of a substance, which originate and perish, emerge and vanish, are called in the Jain system of philosophy *paryāyas*[33] or *pariṇāmas* for which the equivalent term in Nyāya system is *guṇa.*

The word *guṇa* and *pajjāya* (Skt. *paryāya*) or *bhāva* are found in the comparatively old *Āgamas* like *Bhagavatī* (*Vyākhyāprajñapti*), *Uttarādhyayana*, etc. to signify capacity or quality and condition (or

mode) of a substance, respectively. The term *bhāva* is used for modes as well as for entity *(padārtha)*. In *Yāska's Nirukta* the term *bhāva* is used in the sense of entity (*sattva*). While the term non-existence (*abhāva)* is regarded as one of the categories of entity (*padārtha*) in the Nyāya-Vaiśeṣika system. Modified state *(vikārātmaka-bhāva)* of an entity is *paryāya.* That is why *guṇa* is defined as '*sahabhāvī*[34] or *yugapadavasthāyī* i.e. that which exists permanently and co-existingly or simultaneously with the substance is *guṇa. Paryāya* is *kramabhāvī* or *ayugapadavasthāyī* i.e. that which exists in the substance successively. *Uttarādhyayana* clearly mentions that *guṇa* is inherent in one single substance (*ekadravyāśrita*) while that of *paryāya* exists in both the substance and quality (*ubhayāśrita*). The characteristics of *paryāya* are oneness, separatedness, number, figure, conjunction and disjunction. Vidyānanda offers logical arguments in support of distinction in question, but Akalaṅka, who preceded him, maintains that there is an identity-as-well-as-distinction (*bhedābheda)* between the meaning of the terms *guṇa* and *paryāya*, a position followed by Āmṛtacandra as also by Siddhasena Gaṇi in his commentary on *Tattvārthabhāṣya.* He adds that generality *(sāmānya)*, general rule *(utsarga)*, association *(anvaya)* and *guṇa* are synonymous and so are particular *(viśeṣa)*, difference or distinction *(bheda)* and *paryāya.* Siddhasena Gaṇi holds that *guṇas* are of special capacities inherent in a *dravya*; they exist in it simultaneously such as, form (*rūpa*), etc. in matter *(pudgala)*, while *paryāyas* or modes, exist in a *dravya* in succession. Matter substance (*pudgala dravya*) as clay etc. does not give up its own inherent nature (*svabhāva* or *guṇa*) clayness or earthiness, while the particular forms the lump of clay, pitcher, etc. are *paryāyas* as another state and another name of the same substance. Therefore, the relation between the *guṇa* and the *paryāya* is one of somehow identity-cum-difference.

Qualities and modifications can be roughly compared with inseparable and separable accidents. Quality is mainly a differentia of a substance, while the modification stands for the apparent condition or state of appearance which serves as badge for individual discrimination.

Kundakunda explaining the distinction between *guṇa* and *paryāya* through illustrations says that 'Sentiency or the manifestation of consciousness is the *guṇa* of *Jīva*- substance; while its modifications are god-hood, manhood etc. Corporeality (*rūpitva*) is the *guṇa* of *pudgala* or matter and its *paryāyas* are manifold like wood, table etc. When these primary *paryāyas* have, in turn, sub-*paryāyas*, the position of *guṇa* comes to be slightly different. We are led to the distinction something like that of the general and particular *guṇas*.[35]

Siddhasena Divakara's view on the relationship of Guṇa an Paryāya:

Abhedavāda: Siddhasena Divākara (5th cent. CE) introduced a new trend with regard to the relation between *guṇa* and *paryāya*. According to him the two terms *guṇa* and *paryāya* are but synonyms,[36] have one and the same meaning. He objects to those who accept that colour, taste, smell and touch are independent cognizable qualities having substance as their substratum. His argument is that 'had there been a difference of meaning between the terms *guṇa* and *paryāya*, Lord Mahāvīra would have spoken of a third stand point (*naya*) *guṇārthika-naya*, along with the *dravyārthika* and *paryāyārthika*.[37] This theory of *abhedavāda*, propounded by Divākara, is not widely held and is strongly opposed. This argument, however, seems to have been supported by Siddhasena Gaṇi[38], Hemacandra, Haribhadra[39] and Hermann Jacobi[40]. Though Devasūri has tried to make out a distinction between the meaning of the two terms- *guṇa* and *paryāya*, he also seems to be under the influence of the thesis of identity. Āch. Hemacandra did not at all insert the term *guṇa* in his aphorism '*viṣayalakṣaṇa*' on the object of a *pramāṇa*, nor did he raise the question as to whether the term *guṇa* and *paryāya* are identical or different in meaning. Thus, it is apparently clear that he too was the advocate of non-difference or identity of *guṇa* and *paryāya*[41]. Upādhyāya Yaśovijaya (17th Cent. CE) worked on the same line and tried to establish the theory of identity between *guṇa* and *paryāya*.

Answering the legitimate question raised by Siddhasena Divākara

Dr. A. N. Upadhye maintains that the *paryāya* is an external imposition; it may be of manifold kinds; the same *paryāya* may be possible on different substance grounds; the same substance may be subjected to different *paryayas* at different time; and the *paryāya* is not essentially inherent in the very nature of the substance. The only relation between substance and *paryāya* is that a substance cannot be imagined without one or the other *paryāya. Paryāya* stands for the fluctuating aspect of substance and qualities and requires to be stated when anything about a substance is to be said; and hence the necessity of a *paryāyārthika-naya.* As distinguished from it we have *dravyārthika-naya* in which the attention is directed not towards the fluctuating aspect of the thing but to the permanent aspect of it, namely the substance with qualities. *Guṇa* cannot be perceived anywhere else than in substance; and a substance cannot be conceived without *guṇa. Guṇas* being embedded in and coeval with the substance, there is no necessity of a third-point of view as *guṇārthika.* It would have been necessary only if the Jains like Nyāya-Vaiśeṣika would have admitted the possibility of substance without *guṇas* at least for a while. Further the canonical references *vaṇṇa-pajjavehiṁ* and *gaṁdha-pajjavehiṁ* can be thus explained.[42]

Dr. A. N. Upadhye's logic seems to be valid because had *guṇa* and *paryāya* been identical, there would not have been the existence of the two - *guṇa* and *paryāya* as separate entity. Thus, on the basis of the history of the relationship of *guṇa* and *paryāya* it can be said that both the terms were being used in the age of the *Āgamas.* With the advent of the age of Jain logic, a discussion as to whether the two terms are identical or different in meaning, got prominence. As a result, the different teachers adopted and defended different standpoints and established also their theses on the said problem.

Bhedavāda: The upholders of this view are Umāsvāti, Kundakunda, Pūjyapāda and Vidyānanda. They maintain distinction between *guṇa* and *paryāya.* Umāsvāti enunciates his *bhedavāda* in the *sūtra*: *(guṇaparyāyavaddravyaṁ)* meaning by that substance is possessed of qualities and modifications. Kundakunda criticizing the false

believers who belief in oneness (aikāntikam) of the *paryāya* and *guṇa*, maintains that the object of knowledge is made up of substances, to be characterized by qualities and with which, moreover are (associated) the modifications. A substance is, therefore that which is endowed with qualities and accompanied by modifications.[43] Puĩyapāda and Vidyānanda held the same view.

Bhedābhedavāda: This view can be described as a tendency than a well developed attitude. It suggests a coalescence of mutual identity and difference between *guṇa* and *paryāya* in a substance. Akalaṅka and Vādidevasūri seem to hold this view. Akalaṅka, for instance, holds that *guṇas* themselves are identical with *paryāyas* (*tato guṇa eva paryāyaḥ*) and that *guṇas* are also a distinct category from *paryāya*, a fact which is sanctioned according to Akalaṅka by scriptural authority.[44] Vādidevasūri maintains that *guṇas* always *kālābhedapekṣayā* inhere in an entity, *paryāyas* come one after another- *kālavibhedāpekṣayā*, hence the *guṇa and paryāya* are different. Different between the two is not *sarvathā* or as great as it is between a pillar and a jar; nor is the identity (*abheda*) between them (as indissolvably intimate) as it is between a thing and its nature (*svarūpavat*). The difference consists in the peculiar nature *(svarūpāpekṣayā)* of each and the identity in their (common) abode (*dharmyāpekṣaya*).[45] Dr. Y. J. Padmarājiyah has very beautifully summarized these all three views in his work, '*Jaina Theories of Reality and Knowledge*.[46] Apart from Jains, the other Indian philosophical schools like Nyāya-Vaiśeṣika, etc. are since the very beginning, advocates of difference (*bhedavādin*) maintain the difference of quality *(guṇa*) and action *(karmas*), etc. from substance *(dravya*). The distinction of *sat-vastu* and (real entity) in the form of *dravya, guṇa* and *paryāya* in Jaina philosophy reminds one of *dravya, guṇa* and *karma* of Vaiśeṣikas called as *sat* or *artha*. Hence they are of the view that the qualities and actions of a substance are different from this substance. On the other hand, the Jain position that *guṇa* and *paryāya* are the transformations of (*pariṇāma*) *dravya*

reminds one of the corresponding Sāṁkhya positions that all physical phenomena are the transformations of Prakṛti.

Concept of Mode: The technical meaning ascribed to the term *paryāya* in the Jain system of philosophy is to be found in no other systems. In Jainism, *paryāya* means that which undergoes change or transformation.[47] Modification means forfeiture of the precedent (state) and appropriation of the succeeding state. '*Parisamantādayaḥ paryāyaḥ*' means which undergo changes or transformation from all angles is *paryāya*.[48] Umāsvāti also used the term *paryāya* for transformation (*pariṇāma*) or change.[49] In Jainism, definition of *paryāya* must be read in context with that of substance (*dravya*).

While discussing the definition of *dravya* we have already discussed many of the characteristics of *paryāya*. To recapitulate its meaning for clarification it is to be explained that the derivative meaning of '*paryāya*' (*pari+ āya*) is *kramavartin* (that which undergoes succession) or *kramika-parivartana* (change into another state in succession--spatial and temporal). In the series of substance, its newer modes rise up and fall down according to the changes in space and time. So the series or succession of conditions or states takes place due to *paryāya* of a substance by the spatial and temporal order. *Paryāya* inheres in both *dravya* and *guṇa* and it denotes states (*bhāva*), particularity (*viśeṣa*), change or mutation (*pariṇāma*) etc., as they are not permanent in substance and qualities. Oneness, separateness, number, figure, conjunction and disjunction are the characteristics of *paryāya*.

Umāsvāti while explaining aphorism '*utpādavyayadhrauvyayuktaṃ sat*' maintains that origination, cessation and persistence constitute existence. All substances are real as they have existence and existence is combination of appearance, disappearance and persistence. What appear and disappear are modes and what persists is substance. Existence is the combination of impermanence and permanence, modes and substances. By giving an example of soul, he explains the impossibility of the absolute permanence. If the soul were absolutely permanent, it could not undergo transformation from the

life of a human to that of God and vice-versa, because it would obliterate the distinction between worldly life and the state of liberation and consequently, the spiritual discipline for the achievement of liberation would lose all meaning. In this connection his *Svopajñabhāṣya-ṭīkā* brings out the positive aspects of the four kinds of traditional non-existence:

1.Pre-origination non-existence is existence in another form, e.g. before a golden pot originates the gold exists.
2. Post cessation non-existence is also existence in another form, e.g. before a golden pot is destroyed, the gold exists.
3. The mutual non-existence of two things is because of their existence e.g. this gold pot is not that gold pot and that gold pot is not this gold pot.
4. Absolute non-existence refers to that which can never exist by definition of what does exist, e.g. the 'square circle' is understood as impossible because both square and circle exist independently. These four kinds of traditional non-existence are used to show the continuity among origination, cessation and persistence, between modes and substance. In the cessation of one mode there is origination of another and through this substance persists.[50] Late Prof. Nathmal Tatia remarks,"the logical dilemma of partless, indivisible, imperceptible units making something many zeros making one- has perplexed Indian philosophy for centuries. One conclusion was that reality is an illusion; there are only modes but no substance. This gave non-absolutist solution which rejects absolutist philosophies of impermanence and permanence. The atom is understood as a combination of one substance and many qualities; the qualities have no independent existence but must be contained by the substance."[51]

Kundakunda maintains that *paryāya* is the mode of existence of *dravya* through which its triple nature-origination, destruction and permanence is manifested. He gives an example of gold and ornaments made of it.[52] When the gold is melted to prepare ornament, the disappearance of the previous form of gold is destruction (*vyaya*),

new ornament made is origination *(utpāda*) and yet all the while presence of gold through change is its persistence (*dharuvyatā*).

Āc. Hemacandra uses the term *paryāya* in the sense of all the properties like qualities, actions, etc. of the substance. *Dravya* or substance possesses qualities (*guṇa*) and modes (*paryāya*).

Thus, it is apparently clear that each *dravya*, undergoing changes into different forms in accordance with the cause as result of its own changing nature, attains various transformations. The capacity of causing transformation (*pariṇāma*) or change in a substance is called quality and the transformation due to *guṇa* is known to be mode.

Division of Mode

Mode is generally divided into two types viz. (1) indistinct or non-spatial mode *(artha-paryāya*) and (2) distinct or spatial mode (*vyañjana-paryāya). Artha* denotes effect (or object) and *vyañjana* is that which becomes manifest. The continuous flow of the real runs parallel to the continuous flow of the duration of time. This intrinsic change of substance is called *arthaparyāya.* Intrinsic mode of substance occurring for one moment *(ekasamayavartī arthaparyāya)* takes place in all the six fundamental substances due to the general changing state of substance. Its origination and destruction occur on account of the change that all substance undergo. *Vyañjanaparyāya* is gross, lasting, expressible in words and capable of articulation. That is why its area is limited to perceptible substance, viz. matter (*pudgala*). A physical object may have a particular mode- say table for certain duration of time. This state of table is *vyañjana-paryāya* of matter. Similarly, a mundane soul's existence as a particular form of life, say a horse, is its *vyañjana-paryāya.*

Arthaparyāya on the other hand is subtle, fleeting, evanescent and ephemeral. It continues without any external influence. It lasts only for one moment *(samaya)* and therefore cannot be expressed in words. But it is found in all substances- whether perceptible or not and whether gross or subtle. Thus molecular disintegration and aggregation that occur every moment in a physical object is an intrinsic mode. Similarly, the continuous change that takes place in consciousness of a soul is its indistinct mode (*artha-paryāya*).

Vyañjanaparyāya which is of two kinds, viz.natural state *(svabhāva)* and particular state *(vibhāva)*, takes place in soul *(Jīva)* and matter, whereas only *arthaparyāya* operates in all the other four substances viz. medium of motion, medium of rest, space and time. *Vyañjanaparyāya* occurs due to the cause of particular changing state vibration (*parispandana*) of worldly souls and matters. The activity of origination and destruction of these *vyañjanaparyāyas* sometimes take place and sometimes do not take place. There is no rule to occur every moment; it may or may not occur at every moment.

In addition to these *vyañjanaparyāya* and *arthaparyāyas,* in *Prajñāpanāsūtra,* two other kinds of *paryāya* viz. modes of living substance *(jīva-paryāya* and modes of non-living substance (*ajīva-paryāya*) are mentioned. These are infinite in number How the modes of living substance are infinite, *Prajñāpanā* describes that *Nairayika, Bhavanapati, Vāṇavyantara, Jyotiṣka, Vaimānika, earth*-bodied *(pṛthvīkāyika),* water-bodied *(apkāyika),* etc. all these souls are innumerable but plant-bodied *(vanaspatikāyika)* and liberated (*siddha*) are infinite, therefore, modes of living substance are infinite.

Being advocate of momentariness (*kṣaṇikavāda*) the Buddhists deny the existence of past, present and future (*traikālika*) permanent substance and give importance to the modes. They hold that the elements of existence are momentary appearances, momentary flashing into the phenomenal world out of unknown source. The modes last for a single moment (*kṣaṇa*) only. They disappear as soon as they appear, in order to be succeeded by the next moment by another momentary existence. Thus a moment becomes a synonym of an element (*dharma),* two moments are two different elements. An element becomes something like a point in time-space. That is why a mode like cognition is admitted in Buddhism, but the soul as permanent entity endowed with knowledge modes (*jñāna-paryāya*) is denied. They hold that there is no soul apart from the feelings, ideas, volitions, etc.

The *Upaniṣads* and Vedānta establish the doctrine of absolute reality (*Kūṭastha Brahman*) which is just contrary to Buddhist system of

thought. Vedāntists consider the perceptible world as the result of superimposition (adhyāsa) of *Māyā,* the power of Brahman. Hence the world is appearance or transformation of Brahman through *Māyā* (*pariṇāma-* in case of Rāmānuja's Qualified Monism). Dr. B. N. Seal explains 'the power of *Māyā* is the power to realize the unreal to import practical Reality or mediate existence to that which does not and cannot possess absolute Reality or self-existence.

The synthesis of these two rival doctrines-Buddhist and Vedāntist took place in Jainism. In the *Upaniṣadas,* the doctrine of evolution of Prakṛti (*prakṛtipariṇāmavāda*) is embodied, but Puruṣa (Self) has been accepted as immobile or unchanging *(kūṭastha*). In opposition to this doctrine of *prakṛtipariṇāmavāda* Lord Mahāvīra introduced the doctrine of change or transformation (*pariṇāmavāda*) all-pervading by admitting the state of transformation in these two substances--self (*jīva*) and non-self (*ajīva*), after having defined existence (*sattā*) as characterized by origination, decay and permanence.

Relation between substance and modes:

Now the question arises, what is the relation of modes with the substances? Is it of difference or non-difference? Answer of this question is revealed in a conversation held between the disciples of Lord Pārśvanātha and Lord Mahāvīra occurred in *Vyākhyāprajñapti.* The disciples of Lord Pārśvanātha ask, 'what is the *sāmāyika* and its meaning? Lord Mahāvīra replies that the soul only is *sāmāyika* and it is the meaning (*artha*) of the *sāmāyika.* Thus soul is a substance and *sāmāyika* is its mode. It is revealed in this explanation that Lord Mahāvīra advocated the theory of non-difference of substance and its mode by substantial point of view (*dravyārthika-naya*). But elsewhere he advocated the theory of difference between these, by modal standpoint *(paryāyārthika-naya).*

According to *Vyākhyāprajñapti* 'the non-permanent (*asthira*) changes, but the permanent (*sthira*) does not change; the non-permanent breaks, while the permanent does not break'. Similarly, the fool (*bāle*) and the wise (*paṇḍita*) are eternal but foolishness (*bāliyattaṃ*) and

erudition (*paṇḍiyattaṃ*) are non-eternal. *Ācārāṅga Sūtra*[53] - *je āyā se vinnāyā, je vinnāyā se āyā*) also records the relation of soul as substance with its knowledge (as transformation -*paryāya)* and maintains that there is difference of knowledge from soul, but knowledge being essential quality of the soul, is non- different from it. If there had been absolute non-difference between the soul and knowledge, the soul would have been destroyed with the destruction of knowledge.

Āc. Kundakunda also throws light upon the problem of the identity and difference of substance and modes by explaining it on the basis of the Āgamic view and holds that there cannot be a substance without mode nor modes without a substance; they have a non-different state of relation. Though there is difference between substance and its mode from the point of view of significance, quality and utility, yet the one cannot exist apart from the other as the difference is not fundamental. For example, an ornament which is mode of gold is different from gold in significance (*sanjñā*), quality *(lakṣaṇa*) and utility (*prayojana*). But there can be no ornament apart from gold and gold apart from some form of its modification . The relation between substance and mode is the same as the relation between the matter and its form.[54]

Thus, there lies an objective identity among substance , quality and mode. But there is also a subjective difference among them as regard to their concept of distinctness and separateness in the metaphysical analysis. So there arises the question of identity and difference. Āc. Kundakunda maintains that there are two kinds of difference, viz. distinctness and separateness *(anyatva* and *pṛthaktva*). The first one is made by thought and the second one is objective. The relation of difference exists among substance, quality and mode in the sense of distinctness (*anyatva*). In this way the likely occurrence and identity (*bhedābheda*) is carefully kept down by him through the application of the distinction between distinctness and separateness.

Inter-relation of substance, quality and modes:

Substance, quality and modes are called the object of knowledge.[55]

The substances which form the objectivity comprise the ego, the non-ego and the combinatory resultants of the two.[56] The substance forms the substratum of qualities and modifications and it is constantly endowed with origination, destruction and permanence without leaving its existential character.[57] It is very nature of substance to be amenable to these three states;[58] origination and destruction are simultaneous and interdependent and are not possible on the absence of the substance.[59] The object of knowledge has always one or the other modification.[60] This trio refers to modifications and qualities and the substances, as it forms the essential basis of the three, comes to be predicated of them that moment.[61]

The object of knowledge has always one or the other modification.[62] One object originates and the other passes away, while the substance is permanent.[63] There is nothing as absolute production or destruction in this world: what is the production of one is the destruction of the other.[64] The substance, quality and modes are existential; as to the relation between the three they are non-separate (*apṛthaktva*) and non-identical (*anyatva*): they cannot be separate because they are the co-occupants of the same spatial existence and they are non-identical because one is not the other.[65]

All three are called *Sat* or *dravya*. *Sthānāṅga* calls it *mātṛikāpada*. At another place it is called '*Uppaneyi, vigameyi vā dhuveyi vā*'.[66] This trio is the basis of infinite quality or manifoldness of substance. This view is supported by Āc. Samantahadra,[67] Jinabhadragaṇi Kṣamāśramaṇa,[68] Amṛtacandrasūri,[69] Jinadasagaṇi[70] and Abhayadeva sūri[71] in their respective works.

Thus, the substances according to Jainism, are the irreducible constituents which being themselves existential, give an existential character to the universe. The substance can be material as well as spiritual. So primarily, in view of their livingness or otherwise, they are two and finally the same can be six. These substances are not immutable but subjected to constant changes in their qualities and modifications with which they are endowed. We see that Jains,

as per their reconciliatory metaphysical standpoint have tried to assimilate the contradictory views regarding the definition of the said terms. The above discussions show that the concept of substance, quality and modies in Jainism is blend or synthesis of all concepts regarding *dravya, guṇa* and *paryāya* found and discussed in other systems of Indian philosophy.

References:

1. (i) *Siddhiviniścaya* Comm., 12-2, p. 739.
   (ii) *Upāsakādhyayana,* 827.
   (iii) *Laghīyastraya,* auto-comm., 76, p. 799.
2. *Satdravyalakṣaṇam, Tattvārtha-sūtra,* 5.29.
3. *Utpāda-vyaya-dhrauvyayuktam sat- Tattvārtha-sūtra,* 5.30; *Āptamīmāṁsā,* Samantabhadra, verse 72.
4. *Uttarādhyayana,* 28/6, *Sanmatitarka,* Siddhasena Divākara, verse 12.
5. *Pañcāstikāya* (*Vṛtti*) Āc. Amṛtacandra, verse 44.
6. *Uttarādhyayana,* 28/5.
7. *Mahābhāṣya,* 4.1.3, 5.1.119.
8. *Tattvasaṁgraha,* 313-15.
9. (i) *Sat-dravyalakṣaṇaṁ- Tattvārth-sūtra,* 5.29.
   (ii) *Utpādavyayadhrauvyayuktaṁ sat,* Ibid, 5.30.
   (iii) *Guṇapryāyavad dravyaṁ,* Ibid, 5.37.
10. *Sarvārthasiddhi,* Pūjyapāda, 5.29.
11. *Aparicattashāveṇuppādavyayasṁyuttaṁ/guṇavaṁcasapajjāyaṁ jaṁ taṁ davvaṁ ti vuccanti-Pravacanasāra,* Kundakunda, 2.3.
12. *Tattvārth-sūtra,* 5.29, 5. 38.
13. *Sarvārthasiddhi,* Pūjyapāda, 5.29.
14. *Viśeṣāvaśyakabhāṣya,* verse 28.
15. *Laghīyastraya,* 2.1.
16. *Dravati tāṅstān paryāyān gacchati itidravyam dhrauvyalakṣaṇam, Pramāṇamīmāṁsā,* Hemacandra, 1.1.30.
17. *Pramāṇasamuccaya,* p. 24. *Pañcāstikāya,* verse 18.
18. *Pravacanasāra,* 1.87; 2.3,6,13.
19. Vide. Jain, Dr.Veer Sagar and Jain, Dr. Shugan C., Study Notes, Vol. 1. 5.50, ISJS, 2013.
20. *Ācārāṅga-sūtra,* 1.1.

21. *Drvyāśrayā nirguṇā guṇāḥ- Tattvārthasūtra,* 5.41, *Jaina Laksaṇāvalī,* Vol. II, p. 412.
22. *'Ādya kṣaṇe nirguṇa dravyaṁ tiṣṭhati'- Tarkabhāṣā* etc.
23. *Astitva* (being or existence), *vastutva* (entity-hood), *dravyatva* (substancehood), *prameyatva (*objectivity), *pradeśatva* (possession of space-points), *aguru-laghutva* (steadfastness or neither heavy-nor light), *cetanatva.* (sentience), *acetanatva* (non-sentience), *mūrtatva* (perceptible by sense organs and *amūrtatva* (non-perceivable).
24. *Jñāna, darśana, sukha, vīrya, sparśa, rasa, gandha, varṇa, gatihetutva, vartnāhetutva* etc.
25. *The Central Philosophy of Buddhism,* p.19.
26. *Jain Theories of Reality & Knowledge,* Dr. Padmarajiah, Jain Sahitya Vikas Mandal, Bombay 1963, p. 25-26.
27. Ibid, p. 26.
28. (i) *Uttarādhyayana,* 28.6.,
    (ii) *Āvaśyakaniryukti,* Haribhadra's Comm., 978, p.445.
    (iii) *Dhavalā,* 1.18, 137, 174.
    (iv) *Nyāyaviniścaya-vivaraṇa,* 1-115, p. 428-29.
29. (i)*Tattvārthasūtra,* 5.29, 5.40.
    (ii) *Pañcādhyāyī,* 1.104-5.
30. *Sarvārthasiddhi,* 5.38.
31. *Nyāyakośa,* Third Edition, vide. *paryāya,* p. 491.
32. *Ālāpapaddhati,* p. 155 etc.; Amṛtacandra's comm. on *Pravacanasāra,* p. 124.
33. *Utpādavināśalakṣaṇaḥ paryāyaḥ- Tattvārthabhāṣya,* Siddhasena Gaṇi Comm., 5.30,5.31.
34. (i)*Dhavalā,* 1. p. 174.
    (ii) *Guṇaḥ sahabhāvī dharmaḥ- Pramāṇanayatattvāloka* 5-7.
35. *Pravacanasāra,* Kundakunda, Param Shruta Prabhavak Mandal, Agas, 'Introduction' A. N. Upadhye, p.63.
36. *Sanmatitarka-prakaraṇa,* ed. Pt. Sukhlal Sanghvi & Pt. Bechardas Doshi, verse-8-15, of 3rd *kāṇḍa,* pp.63-64.
37. *Do uṇa ṇayā bhagavayā davaṭṭhiya-pajjavaṭṭhiyā niyayā/ Etto ya guṇavisese guṇaṭṭhiyaṇao vi jujjaṁto- Sanmatitarka-* III.10.
38. *Vastutaḥ paryāyaḥ guṇaityaikāntikaṁ-* Siddhasena Gaṇi's Comm. on *Tattvārthasūtra,* ed. H. R. Kapadia, 1926, p. 428.

39. *Cf.* The lengthy passage, in *Sanmati-tarka-prakaraṇa* from *Śāstravārtā-samuccaya* where Haribhadra offers, in substance, the same arguments as Siddhasena Divākara.
40. Jacobi, Hermann, *Jain Sutras*, pt. II, intro- p. 34.
41. *Tathāhi- dravyaparyāyoraikāntuikaheheparihāreṇa kathañcit bhedābhedavādaḥ syādvādibhirupeyate, Pramāṇamīmāṅsā-* Hemacandra, 1.1.32-35, p. 28.
42. *Pravacanasāra,* Kundakunda, 'Intro. A. N. Upadhye, p.63.
43. *Guṇavaṁ ca spajjāyaṁ jaṁ taṁ davaṁ hi vuccanti, Pravacanasāra-* 2.3.
44. *Guṇābhāvādayuktiriti cennārhatpravacanaahṛdayādiṣu guṇo padesāt, Tattvārtharājavārtika-* p.243.
45. *Syādvādratnākara, p.736.*
46. Padmarājiyah, Dr. Y.J., *Jaina Theories of Reality an Knowledge* pp. 258-266.
47. *Svabhāva-bibhāvarūpatayā yāti paryenti parimaṇatīti paryāya iti paryāyasya vyutpatti- Nayacakra,* p. 57.
48. *Tattvārtharājavārtika,* 1.31, 1.15.
49. *Tattvārthasūtra,* Umāsvāti, 5.41
50. *Pravacanasāra- Tattvapradīpikā vṛtti,* Amṛtacandra, verse 2.4, p.117.
51. *That Which Is,* Dr. N. Tatia, Harpar Collins Publisher, London, 1994, pp. 135-36
52. *Prajñāpanā-sūta,* 438, Ed. Madhukar Muni, APS, Vyavar, p.38.
53. *Ācārāṅga Sūtra,* 1.5.5.
54. *Pravacanasāra,* 2.4
55. Ibid, 1.87.
56. Ibid, 1.36.
57. Ibid, 1.87, II, 3,6,13
58. Ibid, II,7
59. Ibid, II,8
60. Ibid, I,18
61. Ibid, II,9
62. Ibid, I,18
63. Ibid, 2,11
64. Ibid, II. 27.

65. Ibid, Intro. Dr. A. N. Upadhye, p.62.
66. *Sthānāṅga-sūtra*, Gujarati trans. Pt. Dalsukh Malvania, 10.46.
67. *Āptamīmāṁsā*, Samantabhadra, verse 59-60.
68. *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya*, verse 2666.
69. *Pañcāstikāya* comm. Amṛtacandra, verse 11.
70. *Daśavaikālika-sūtra*, p. 16.
71. *Sanmati-tarka-prakaraṇa*, *Abhayadevavṛtti*, p. 410.
    (i) *Uttarādhyayana*, 28.6.
    (ii) *Āvaśyakaniryukti*, Comm.- Haribhadra 978, p. 445.
    (iii) *Dhavalā*, I. 18, 137, 174.

****

पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार

उपाध्यायरत्न ज्ञानसागर महाराज के रजत दीक्षा जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में संगोष्ठी (१४/०४/२०१३):-

जैन मुनि उपाध्यायरत्न ज्ञानसागर महाराज की रजत दीक्षा जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में श्रुत संवर्धन, मेरठ के सहयोग से करौंदी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ में **'भारतीय संस्कृति के विकास में पुस्तकालयों का योगदान'** विषयक एक दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का १४ अप्रैल २०१३ को आयोजन हुआ। उद्घाटन सत्र के अध्यक्ष पद से बोलते हुए भारत सरकार के पूर्व मुख्य सूचना आयुक्त डा. ओ. पी. केजरीवाल ने कहा कि पुस्तकालय संस्कृति का जनक है। नालन्दा पुस्तकालय का उदाहरण देते हुए कहा कि नालन्दा के विनाश के बाद सभ्यता का अन्धकार युग आ गया। उन्होंने कहा कि तकनीकी विकास के साथ पुस्तकालयों के स्वरूप में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। आज की परिस्थिति में जिस पुस्तक का प्रकाशनाधिकार समाप्त हो चुका है उस पुस्तक की पूरी की पूरी छाया प्रति करने की अनुमति होनी चाहिये। संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र के मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए प्रख्यात शिक्षाशास्त्री एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय कार्यपरिषद के पूर्व सदस्य प्रो एस.बी.सिंह ने प्राचीन, प्रसिद्ध एवं समृद्ध पुस्तकालयों का उदाहरण देते हुए उनके महत्त्व पर प्रकाश डाला। आपने राजस्थान के जैन ग्रन्थों का उदाहरण देते हुए उन्हें भारतीय संस्कृति के विकास में अहम भूमिका निभाने वाला बताया।

प्रो. कमलेश कुमार जैन, प्रो. अशोक कुमार जैन, श्री ओम प्रकाश सिंह, शोभित मिश्रा, डॉ. अरूपा मजुमदार, डॉ. हीरककांति चक्रवर्ती, श्री राम कुमार दांगी, डॉ. विवेकानन्द जैन, बृजेश कुमार गर्ग, विजेता मालवीय,आदि कुल मिलाकर देशभर के लगभग १७ प्रतिभागियों ने इस संगोष्ठी में अपने शोधपत्र का वाचन किया और लगभग १३५ प्रतिभागियों ने भाग लिया।

कार्यक्रम के संयोजक पुस्तकालयाध्यक्ष पार्श्वनाथ विद्यापीठ श्री ओम प्रकाश सिंह ने संगोष्ठी के बारे में जानकारी प्रदान की, संचालन डॉ. संजीव सर्राफ ने तथा अतिथियों का स्वागत डॉ. अशोक कुमार सिंह ने किया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ का परिचय पार्श्वनाथ विद्यापीठ के एकेडमिक डीन डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय ने दिया और धन्यवाद ज्ञापन डॉ. राहुल कुमार सिंह ने किया। कार्यक्रम के सफल आयोजन के लिए सभी ने पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मैनेजिंग कमेटी के प्रेसिडेण्ट डॉ. शुगन चन्द जैन के प्रयासों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, २१ दिवसीय प्राकृत भाषा एवं साहित्य शिक्षण कार्यशालाः-

पू. मुनिराज श्री प्रशमरति विजय जी म.सा. की प्रेरणा एवं वाराणसी के प्रसिद्ध उद्योगपति एवं सुश्रावक श्रीधनपतराज भंसाली, पार्श्वनाथ विद्यापीठ के कोषाध्यक्ष श्री सतीश कुमार लोढा और देवर्द्धि परिषद, नागपुर के आर्थिक सहयोग से पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वराणसी द्वारा १२ मई से २ जून, २०१३ तक प्राकृत भाषा एवं साहित्य शिक्षण हेतु एक कार्यशाला का आयोजन किया गया। इसमें भाग लेने वाले प्रतिभागियों की संख्या ५८ थी। इनमें डॉ. दीप्ति रंजन पटनायक (का.हि.वि.वि.) एवं डॉ. संतोष कुमार मिश्रा(आसाम) एसोसिएट प्रोफेसर, डॉ. अर्चना श्रीवास्तव (म.गांधी काशी विद्यापीठ), डॉ. चन्द्रमौलीश्वर पाण्डेय (पू.वि.वि.जौनपुर), डॉ. उमाशंकर राय (डॉ. राम मनोहर लोहिया, फैजाबाद), डॉ. अश्विन कुमार तिवारी, डॉ. राजबहादुर यादव (सहायक प्रोफेसर), डॉ. संगीता सिंह एवं डॉ. अर्चना कुमारी (पोस्ट डॉक्टरल फेलो, दर्शन विभाग), डॉ. अनुराधा पाठक, दर्शन विभाग, डॉ. सुशील कुमार सिंह, डॉ. संगीता सिंह (इतिहास विभाग), पी.एच.डी., एवं शेष सभी शोध छात्र थे।

इस कार्यशला में अध्यापन कार्य पू. प्रशमरति विजय जी म. सा. (१६ कक्षायें), डॉ. दीनानाथ शर्मा एसोसिएट प्रोफेसर, गुजरात विश्वविद्यालय (४८ कक्षायें) एवं डॉ. अशोक कुमार सिंह, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी (३२ कक्षायें) ने किया।

कार्यशाला में लगभग १०० कक्षाएं एवं चार विशेष व्याख्यान- 'वैदिक संस्कृत पर प्राकृत का प्रभाव' तथा 'अर्धमागधी आगम साहित्य', डॉ. अशोक कुमार सिंह, 'प्राकृत अभिलेख' प्रो. महेश्वरी प्रसाद और 'कातन्त्र व्याकरण' प्रो. जानकी प्रसाद द्विवेदी के विशेष व्याख्यान हुए। कार्यशाला में आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के सूत्र एवं उनके उदाहरण में आए शब्दों के व्याकरणिक विश्लेषण के साथ, अर्धमागधी आगम- उत्तराध्ययन सूत्र (गाथा) और उपासकदशा (गद्य), महाराष्ट्री-पउमचरिय (विमलसूरिकृत) और अभिज्ञान शाकुन्तलम् तथा शौरसेनी- प्रवचनसार (आचार्य कुन्दकुन्द) से चयनित अंशो की संस्कृत छाया, हिन्दी अर्थ एवं शब्दों का व्याकरणिक विश्लेषण सहित अध्ययन कराया गया। हेमचन्द्र के व्याकरण से सन्धि, समास, शब्द रूप, धातु रूप, ध्वनिपरिवर्तन, स्वर पवितर्न, असंयुक्त व्यञ्जन पवितर्न, संयुक्त व्यञ्जन परिवर्तन आदि का अध्ययन कराया गया। मूल्यांकन हेतु सप्ताह के अन्त में पढ़ाये गये गद्यांशों एवं पद्यांशों की लिखित परीक्षा ली गयी। अंत में लिखित एवं मौखिक परीक्षा ली गई।

परीक्षा के आधार पर प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान पाने वाले प्रतिभागियों में श्री राकेश कुमार मिश्र (प्रथम), डॉ. अनुराधा पाठक एवं सुश्री दीपिका (द्वितीय), डॉ. सन्तोष कुमार मिश्रा एवं सुश्री सावित्री (तृतीय), को क्रमशः तीन हजार, दो हजार एवं एक हजार का पुरस्कार एवं डॉ. के. आर. चन्द्रा सम्पादित प्रकृत-हिन्दी कोश की एक-एक प्रति भी भेंट की गई।

इस २१ दिवसीय कार्यशाला का उद्घाटन १२ मई को संस्कृत के शीर्षस्थ विद्वान एवं इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, वाराणसी के परामर्शदाता प्रो. कमलेश दत्त त्रिपाठी ने किया। २ जून को समापन समारोह के मुख्य अतिथि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रति कुलपति प्रोफेसर यदुनाथ दूबे एवं सभापति प्रो. महेन्द्रनाथ राय, प्रमुख कला संकाय, का.हि.वि.वि.रहे। कार्यशाला के आयोजन हेतु पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष श्री रमेशचन्द्र बुरड, सभापति डॉ. शुगन चन्द जैन, श्री धनपतराज भंसाली एवं सचिव श्री इन्द्रभूति बुरड के संरक्षकत्व में एक आयोजन समिति का गठन किया गया। था। डॉ. अशोक कुमार सिंह कार्यशाला निदेशक, श्री ओम प्रकाश सिंह, डॉ. नवीन कुमार श्रीवास्तव एवं डॉ. राहुल कुमार सिंह, सह-संयोजक, श्री राजेश कुमार चौबे एवं दयाशंकर सिंह, वित्त-प्रबन्धक, महेन्द्र लुणावत, डॉ. श्रीनेत्र पाण्डेय एवं डॉ. रुचि राय प्रचार समिति से तथा श्री राकेश सिंह भोजन व्यवस्थापक के रूप में जुड़े रहे।

द्रव्य, गुण, पर्याय पर डॉ. जयन्द्र सोनी, आस्ट्रिया, का व्याख्यानः

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी द्वारा आयोजित 'द्रव्य, गुण, पर्याय' विषयक एक दिवसीय व्याख्यान में मुख्य वक्ता के रूप में 'इन्सबुक विश्वविद्यालय' आस्ट्रिया के डॉ. जयन्द्र सोनी ने कहा कि जैन दर्शन के अनुसार गुण और पर्याय को द्रव्य से अलग नहीं किया जा सकता। सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है।

अध्यक्षीय उद्बोधन देते हुए दर्शन एवं धर्म विभाग, बी.एच.यू. के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो. ए. के. राय ने कहा कि जैन दर्शन में 'द्रव्य' शब्द अनेकार्थक है। इस अवसर पर मुनिश्री प्रशमरति विजय जी ने जैन धर्म की दृष्टि से द्रव्य, गुण, पर्याय के महत्त्व पर प्रकाश डाला।

इस अवसर पर डॉ. राहुल सिंह (समन्वयक), प्रो. एस. विजय कुमार, प्रो. उर्मिला चतुर्वेदी ने भी अपने विचार व्यक्त किये। इस अवसर पर डॉ. रुचि राय, डॉ. जयन्त उपाध्याय, श्री ओमप्रकाश सिंह, श्री राजेश चौबे उपस्थित थे।

कार्यक्रम का संचालन डॉ. अशोक कुमार सिंह, अतिथियों का स्वागत संस्थान के अकादमीय प्रमुख डॉ. एस. पी. पाण्डेय एवं धन्यवाद ज्ञापन व्याख्यान माला के समन्वयक डॉ. श्रीनेत्र पाण्डेय ने किया

Work On Research Project:

A History of Jains during the 1947 Partition of India

Claremont Lincoln University in Claremont, California, USA in association with International School for Jain Studies India, is undertaking an academic research project on the subject. **Mr. Matthew Zara Fischer**, a Ph. D. student at the university is the Project Director. The motive of this research is to record the living Jaina narrative surrounding the history of the partition while survivors are still alive as our research relies on the experiences of those who were involved as either participants, observers, or by standers in India or in Pakistan [West or East].Our interviewing team, consisting of **Dr. Navin Kumar Srivastava** as the *Field Director* and accompanied an important Jain friend will talk/ interview to about the history of that of 1947. Dr. Srivastava record already took more than 40 interviews from different parts of the country including Delhi, Ghaziabad, Gurgaon, Faridabad, Jaipur, Ambala, Chandigarh, Kot-Kapura, Jammu etc.

****

जैन जगत्

अखिल भारतीय श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक युवक महासंघ का १३वाँ राष्ट्रीय महा-अधिवेशन सम्पन्नः-

अखिल भारतीय श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक युवक महासंघ का युगान्तकारी १३वाँ राष्ट्रीय महा-अधिवेशन परमपूज्य मालवा-भूषण, महातपस्वी आ.श्री नवरत्नसागरसूरीश्वर जी म.सा. के शिष्यरत्न पूज्य मुनि श्री जिनेशरत्नसागर जी म.सा. की पावन निश्रा में १२ कल्याणक भूमि श्री हस्तिनापुर जी तीर्थ में १३ एवं १४ अप्रैल, २०१३ को अपूर्व हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ। इसके आयोजक श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक युवक महासंघ (उत्तर भारत) के अध्यक्ष श्री नीरज जैन ने सभी प्रतिनिधियों का स्वागत किया। मुख्य अतिथि श्री पंकज सिंह (महासचिव, भाजपा, उत्तर प्रदेश) द्वारा 'युवा' पत्रिका के नवीनतम अंक का विमोचन किया गया। समापन सत्र के मुख्य अतिथि मेरठ के सासंद श्री राजेन्द्र जी अग्रवाल ने पूज्य श्री जिनेशरत्नसागर जी म.सा. द्वारा लिखित पुस्तक 'परमात्मा का अभिषेक : एक विज्ञान' का विमोचन किया।

सम्पूर्ण आयोजन श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक युवक महासंघ (उत्तर भारत) के आयोजकत्व में सम्पन्न हुआ। अधिवेशन में उत्तर भारत के श्रीसंघ प्रमुखों सहित अनेकानेक गणमान्य महानुभावों ने अपनी सम्माननीय उपस्थिति प्रदान की।

डॉ. दिलीप धींग बने निदेशक

डॉ. दिलीप धींग (एडवोकेट) अंतर्राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं शोध केन्द्र (इन्टरनेशनल सेंटर फॉर प्राकृत स्टडीज एंड रिसर्च), चेन्नई के निदेशक मनोनीत किये गये हैं। यह केन्द्र १९८२ में स्थापित जैनविद्या शोध प्रतिष्ठान (रिसर्च फाउंडेशन फॉर जैनोलॉजी) की इकाई है। प्रतिष्ठान के संस्थापक महासचिव कृष्णचंद चोरड़िया ने बताया कि तीन दशक पूर्व इसी प्रतिष्ठान के आरंभिक अनुदान एवं समर्पित प्रयासों के फलस्वरूप मद्रास विश्वविद्यालय में जैनविद्या विभाग की स्थापना हुई थी। सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान) द्वारा प्राकृत एवं जैनविद्या में स्वर्णपदक से सम्मानित कवि डॉ. धींग द्वारा लिखित एवं सम्पादित पचास से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। डॉ. दिलीप धींग का पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा हार्दिक अभिनन्दन।

समग्र जैन चातुर्मास सूची २०१३ हेतु चातुर्मास सूचनाओं का आमन्त्रण

जैन समाज की एकता, समन्वय और संगठन की एकरूपता की भावना उत्पन्न करने

हेतु समग्र जैन सम्प्रदायों (श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापंथी एवं दिगम्बर सम्प्रदायों) के लगभग १५ हजार से अधिक जैन साधु-साध्वियों के प्रतिवर्ष होने वाले चातुर्मास एवं समाज की सभी गतिविधियों की सम्पूर्ण जानकारियाँ प्रदान करने हेतु विश्व विख्यात, निष्पक्ष, भारत के सम्पूर्ण जैन समाज की एकमात्र पूर्ण एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक पत्रिका **समग्र जैन चातुर्मास सूची** का विगत ३४ वर्षों से प्रतिवर्ष नियमित प्रकाशन किया जाता रहा है। इससे जैन समाज काफी लाभान्वित हो रहा है। साधु-साध्वियों के २०१३ में स्वीकृत होने वाले चातुर्मासों एवं समाज की सभी गतिविधियों की जानकारियों से युक्त "**समग्र जैन चातुर्मास सूची २०१३**" पृष्ठ ६००, मुम्बई स्थानकवासी जैन चातुर्मास सूची (गुजराती पाकेट बुक) पृष्ठ ५०० एवं रंगीन चार्ट के साथ ३५वें अंक का प्रकाशन करने का निश्चित किया गया है। अत: आपसे निवेदन है कि आपके गाँव/शहर/कस्बे/उपनगरों में जिन पूज्य जैन गच्छ नायक आचार्यों, साधु-साध्वियों के २०१३ वर्ष के चातुर्मास स्वीकृत हुए हैं, उन सभी संत-सतियों के चातुर्मास की जानकारियाँ नीचे लिखे पते पर भिजवाने की कृपा करावें, ताकि चातुर्मास प्रारम्भ हो तक इनका प्रकाशन हो सके।

सम्पर्क सूत्र:- बाबूलाल जैन 'उज्ज्वल' संपादक
१०५, तिरुपति अपार्टमेंन्टस, आकुर्ली क्रोस रोड नं.१,
कांदिवली (पूर्व), मुंबई ४००१०१
टेलीफैक्स: (०२२) २८८७ १२७८
मोबाइल नं.: ९३२४५२१२७८
Email: ujjwal prakashan@gmail.com

पंजाब उपप्रवर्तिनी विदुषी महासती पू. श्री सरिता श्री जी म.सा. का वाहन दुर्घटना में गोलोकवास:

श्रमणसंघ के भीष्म पितामह, तपस्वी रत्न पूज्य श्री सुमति प्रकाश जी म.सा. की अन्तेवासिनी पू.श्री विजयाश्री जी म.सा. की सुशिष्या पू.श्री सरिता जी म.सा. का एक जून २०१३ को वाहन दुर्घटना में कालधर्म को प्राप्त हो गयीं, पू.म.सा. महाराष्ट्र के अहमदनगर से चातुर्मास स्थल पुणे की ओर विहार कर रहीं थीं। मार्ग में कामरगाँव घाट के पास राजमार्ग पर वाहन ने टक्कर मार दी। उन्हें आनन्द जी चिकित्सालय लाया परन्तु मार्ग में ही उनके प्राण पखेरु उड़ चुके थे।

आपके असामयिक निधन से जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति सम्भव नहीं।

****

साहित्य-सत्कार

पुस्तक समीक्षा

मन्नह जिणाण आणं (जिनाज्ञा को मानो)- ग्रन्थकर्त्ता-पूज्य पूर्वाचार्य तात्पर्य संस्कृत प्रबोध दीपिका वृत्तिकार-पूज्यपन्यास प्रवर श्री राजमाणिक्य गणि, संपादक एवं संशोधक- पूज्यपादाचार्य देव श्रीमद्विजयकीर्तियशसूरि, सन्मार्ग प्रकाशन, जैन आराधना भवन, पाछीयानी पोल रिलीफ रोड, अहमदाबाद-३८०००१, प्रकाशन वर्ष २०१३ ई., मूल्य ३००रुपये।

इस ग्रन्थ के मूल में पांच प्राकृत पद्य हैं जिनमें ३६ कर्त्तव्यों के नाम निर्दिष्ट हैं। इसे श्राद्ध दिन कृत्य स्वाध्याय कुलक के रूप में लिखा गया है। तात्पर्यवृत्ति संस्कृत में है तथा उसमें अनेक आगम ग्रन्थों के प्राकृत पद्य तथा कहीं-कहीं संस्कृत के पद्य भी उद्धृत हैं। जैसा कि इस ग्रन्थ का नाम है 'मन्नह (मन्ह या मन्नइ) जिणाण आणं' तदनुसार ही विषयों का विवेचन है।

इसमें ३६ प्रकरण हैं-१. जिनाज्ञा स्वरूप २.मिथ्यात्व स्वरूप (मिथ्यात्व का परिहार) ३.सम्यक्त्व निरूपण, ४-९.षडावश्यक-प्ररूपण, १०.पौषधव्रत, ११.दान कर्त्तव्यता, १२.शीलनिरूपण, १३.तपनिरूपण, १४.भाव-स्वरूप, १५.स्वाध्याय-प्ररूपण, १६.नमस्कार वर्णन, १७.परोपकार स्वरूप, १८.यतना निरूपण, १९.जिनपूजा कर्त्तव्य, २०.जिनस्तवन, २१.गुरुस्तुति, २२. साधर्मिक वात्सल्य, २३.व्यवहार शुद्धि, २४.रथयात्रा, २५.तीर्थयात्रा, २६.उपशमवर्णन, २७.विवेक-निरूपण, २८.संवर-प्ररूपण, २९.भाषा-समिति,३०.जीवकरुणा, ३१.धार्मिकजनसंसर्ग, ३२.करण-दमन, ३३.चरण-परिणाम, ३४.संघोपरि बहुमान, ३५.पुस्तक-लेखन और ३६.प्रभावना तीर्थ। इसके बाद ग्रन्थ प्रशस्ति तथा छः परिशिष्ट हैं जिनमें प्राकृत एवं संस्कृत पद्यों का अकारादिक्रम, वृत्यन्तर्गत कथाओं का अकारादिक्रम, मूलसूत्रगत पाठभेद, कुतुबपुरशाखा-निगम-मत वर्णन तथा श्रावक-करणीय स्वाध्याय। इनमें पञ्चम और षष्ठ परिशिष्ट गुजराती भाषा में हैं। प्रारम्भ में भी गुजराती भाषा में स्वाध्याय तप का तथा ग्रन्थगत विषयवस्तु का प्रतिपादन है।

जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा मानकर ३६ कर्त्तव्यों (जिनेश्वर आज्ञा का पालन, मिथ्यात्व का त्याग, सम्यक्त्व का स्वीकार आदि) का पालन करना चाहिए। यही इसका उद्देश्य है।

ग्रन्थ पठनीय है। इसमें उद्धृत प्राकृत-संस्कृत पद्यों को देखकर लेखक की शोध-प्रवृत्ति का परिज्ञान होता है। पाद टिप्पणी में प्राकृत पद्यों की संस्कृत छाया दी गई है जिससे प्राकृत समझने में सुविधा हो गई है।

प्रो. सुदर्शन लाल जैन

दर्शनशुद्धिप्रकरणम्-(सम्यक्त्व-प्रकरणम) वादीभसिंह, पूज्याचार्य श्री चन्द्रप्रभसूरीश्व, वृत्तिकार- पूज्य श्री चक्रेश्वरसूरि, पूज्य श्री तिलकसूरि तथा पूज्य श्री देवप्रभसूरि, सन्मार्ग प्रकाशन, जैन आराधना भवन, पाछीयानी पोल रिलीफ रोड अहमदाबाद-३८०००१, मूल्य-५००रुपये।

मूलग्रन्थ प्राकृत गाथा में है और पांच भागों में विभक्त है- १.देवतत्त्व, २.धर्मतत्त्व, ३.मार्गतत्त्व, ४.साधुतत्त्व (गुरुतत्त्व) और ५.तत्त्व-तत्त्व (जीवादि नव तत्त्व)। इन पांच तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है। इन पांच तत्त्वों का ही इसमें विवेचन है। मूल के साथ दो संस्कृत टीकाएँ दी गई हैं। गुजराती भूमिका के साथ आठ उपयोगी परिशिष्ट हैं १.गुजराती भाषा में भावानुवाद सहित मूलग्रन्थ, २.विभिन्न ग्रन्थों में समुपलब्ध गाथा सूची, ३.गृहीतान्यग्रन्थ-गाथावृत्ति सूची ४.पूर्वप्रकाशन की कुछ विशिष्ट अशुद्धियों का शुद्धि-पत्र, ५.उपयोगी ग्रन्थरत्नों की सूची, ६.सदृशप्राय वृत्तियों की सूची ७.अन्तर्गत कथाओं की सूची तथा गाथाओं की अकारादि क्रम से सूची। यह ग्रन्थ सब प्रकार से उपयोगी है।

प्रो. सुदर्शन लाल जैन

२. जैन एवं वैदिक परम्परा में द्रौपदी : एक तुलनात्मक अध्ययन

लेखिका- डॉ०(श्रीमती) शीला सिंह, ग्रन्थमाला संपादक- प्रो. सुदर्शन लाल जैन, प्रकाशक-पार्श्वनाथ विद्यापीठ, प्रकाशन वर्ष २०११ई., मूल्य ४५०रुपये।

'जैन एवं वैदिक परम्परा में द्रौपदी : एक तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक कृति डॉ०(श्रीमती) शीला सिंह का उपर्युक्त विषय पर लिखा गया पी-एच०डी० उपाधि (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) हेतु शोध-प्रबन्ध है। डॉ० शीला सिंह पार्श्वनाथ विद्यापीठ की न्यूकेम शोधछात्रा रही हैं और उन्होंने डॉ० अशोक कुमार सिंह एसोसिएट प्रोफेसर के निर्देशन में शोध किया था।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख परम्पराओं वैदिक और श्रमण में परस्पर प्रभूत विनिमय हुआ है। आज आवश्यकता विविध परम्पराओं में अन्तर्निहित एकता के तत्त्वों का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की है। द्रौपदी का चरित्र जैन एवं वैदिक परम्परा में सामान्य रूप से लोकप्रिय है। परन्तु अपनी-अपनी पृथक् पृष्ठभूमियों के कारण दोनों परम्पराओं में द्रौपदी का चित्रण-परिवेश पृथक्-पृथक् है। जैनाचार्यों की प्रवृत्ति जैन सिद्धान्तों को दृष्टान्तों के माध्यम से सहज बनाकर प्रस्तुत करने की रही है। इस कारण हिंसा, असंयम और निदान के भयावह परिणामों का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने के लिए द्रौपदी कथा को आधार बनाया गया।

इस कृति में वैदिक एवं जैन दोनों ही परम्पराओं में उपलब्ध प्रचुर साहित्य के सम्यक् अध्ययन के आधार पर द्रौपदी कथा का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस कृति के माध्यम से द्रौपदी के कथानक पर व्यापक प्रकाश पड़ेगा।

डॉ. रुचि राय

लघ्वर्हन्नीति (संस्कृत मूल एवं वृत्ति, पाठान्तर, हि.अनु. एवं परिशिष्ट सहित) आचार्य हेमचन्द्र, अनुवाद एवं सम्पादक डॉ अशोक कुमार सिंह, ग्रन्थमाला सम्पा. दीप्ति एस० त्रिपाठी, राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन प्रकाशिका ग्रन्थमाला सं०८, राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन नई दिल्ली तथा न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २०१३, पृ० ३२, २८२ साजिल्द, मूल्य रु० ३५०/-

चौलुक्य राजा कुमारपाल के आग्रह पर 'अर्हन्नीति' नामक शास्त्र से सार उद्धृत करके कालिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र द्वारा लघ्वर्हन्नीति की रचना की गई है। स्वयं हेमचन्द्र द्वारा राजा और प्रजा के कल्याण के लिए शीघ्रता से स्मरण में आने वाले तथा सरलता से ज्ञात होने वाले उत्तम शास्त्र लघ्वर्हन्नीति की रचना करने का उल्लेख है। लघ्वर्हन्नीति का वर्गीकरण अधिकरण और प्रकरण में है। इसमें चार अधिकारों में २३ प्रकरण हैं। इसके कुल श्लोकों की संख्या ९२० है। लघ्वर्हन्नीति के वर्गीकरण पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र का प्रभाव दिखाई पड़ता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र का भी वर्गीकरण अधिकरण, प्रकरण में हुआ है। इसके आकार को देखते हुए अधिकरण और प्रकरण के अध्याय और कारिक के रूप में भी उपवर्गीकरण प्राप्त होते हैं।

अर्थशास्त्र में १५ अधिकरण, १८० प्रकरण, १५० अध्याय, ३८० कारिकायें और इसमें श्लोक एवं गद्यांश की संख्या लगभग ६००० अनुष्टुप् श्लोक हैं। लघ्वर्हन्नीति के आकार को देखते हुए इसके अध्याय और कारिका उपवर्गीकरण की आवश्यकता नहीं थी।

अर्हन्नीति के प्रथम अधिकार के एकमात्र प्रकरण के आरम्भ में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर की वन्दना की गई है। बाईस प्रकरणों का आरम्भ द्वितीय से लेकर तेईसवें तीर्थङ्कर की स्तुति से किया गया है।

राजा श्रेणिक द्वारा महावीर से यह प्रश्न पूछने पर कि राजाओं के नीति मार्ग का प्रणेता कौन है। वे आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव को इसका प्रणेता बताते हैं। प्रथम चक्रवर्ती भरत ने उसी के आधार पर शासन के लिए आचार्य वेद चतुष्क की रचना की। परन्तु कालान्तर में वह नष्ट हो गया।

मगध सम्राट श्रेणिक द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर द्वारा दिये गये उत्तर के आधार पर प्रस्तुत शास्त्र का निरूपण किया गया है। समय बीतने के साथ सुविधि आदि तीर्थङ्करो के काल में मिथ्यात्वियों (जैनेतरों) द्वारा अङ्गीकार करने से हिंसा आदि से दोषयुक्त होकर वह (शास्त्र) भ्रष्ट हो गया। इसलिए श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा उसे छोड़कर पूर्व आचार्यों द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ जो पृथ्वी तल पर अब भी विद्यमान है, उनका आश्रय लेकर लोक-व्यवहार का आचरण किया जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार राजा श्रेणिक के प्रश्नों का जिस प्रकार भगवान महावीर समाधान किया उसी का निरूपण अर्हन्नीति में किया गया है। कालिकाल सर्वज्ञ द्वारा ९१८ संस्कृत श्लोकों में विरचित कृति लघ्वर्हन्नीति चार अधिकारों में वर्गीकृत है। इसके चारों अधिकारों का शीर्षक -१. भूमिका-भूपाल-गुणवर्णन, २. युद्ध तथा दण्डनीति, ३. व्यवहार अधिकार और ४. प्रायश्चित है। प्रथम और चतुर्थ अधिकार में एक-एक प्रकरण हैं, युद्ध तथा दण्डनीति शीर्षक दूसरे अधिकार में दो प्रकरण हैं। जबकि तीसरे व्यवहार अधिकार में उन्नीस प्रकरण हैं। इसके प्रथम प्रकरण में व्यवहार मार्ग का स्वरूप और व्यवहार मार्ग के अठारह भेदों का वर्णन किया गया है। इसके अठारह भेदों का शीर्षक और क्रम इस प्रकार हैं- १. ऋणादान स्वरूप, २. सम्थूयोत्थान, ३. देयविधि, ४. दायभाग, ५. सीमाविवाद, ६. वेतनादान, ७. क्रयेतरानुसन्ताप, ८. स्वामिभृत्य विवाद, ९. निक्षेप, १०. अस्वामिविक्रय, ११. वाक्यपारुष्य, १२. समय-व्यतिक्रम, १३. परस्त्रीग्रहण, १४. द्यूत, १५. स्तैन्य, १६. साहस, १७. दण्डपारुष्य और १८. स्त्री-पुरुष धर्म।

वर्ण्य-विषय की आवश्यकतानुसार आचार्य हेमचन्द्र ने एक विषय के लिए अधिकतम १४५ और न्यूनतम १२ श्लोकों का उपयोग किया है। इस दृष्टि से दाय भाग (पैतृक सम्पत्ति का विभाजन) सर्वाधिक विस्तृत है और सम्भूयोत्थान प्रकरण, समय व्यतिक्रान्तिप्रकरण और द्यूत प्रकरण लघुतम आकार वाले हैं। इनमें प्रत्येक में श्लोकों की संख्या मात्र १२ है।

इसके मूल का सम्पादन लघ्वर्हन्नीति की उपलब्ध पाँच पाण्डुलिपियों में से चार (दो भोगीलाल लहेरचन्द संस्कृत विद्यामन्दिर, दिल्ली एवं दो आचार्य हेमचन्द्र ज्ञानमन्दिर, पाटन, गुजरात) के आधार पर किया गया है। हिन्दी अनुवाद के साथ इसमें परिशिष्ट के रूप में श्लोकानुक्रमणिका एवं शब्दानुक्रमणिका भी है।

डॉ. राहुल कुमार सिंह

****

साभार प्राप्ति

पार्श्वनाथ विद्यापीठ को निम्न पुस्तकें साभार प्राप्त हुईं-

१. जैनधर्म में गुरुपूर्णिमा
लेखक- उपाध्याय प्रज्ञसागर मुनि, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली,प्रथम संस्करण २०१२, मूल्य- ४०रु०।

२. श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज उवाच
प्रस्तुति- एलाचार्य श्रुतसागर महाराज, ज्ञानवर्द्धनोत्सव वर्ष-केन्द्रीय समिति, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २०१३, मूल्य- श्रद्धा।

३. श्वेतपिच्छाचार्य का आध्यात्मिक क्षितिज
प्रस्तुति- सतीश जैन (आकाशवाणी), कुन्दकुन्द भारती, १८बी, स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २०१२, मूल्य- श्रद्धा।

४. श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानन्द जी के तपस्वी जीवन की चित्रमय झांकी
प्रस्तुति- सतीश जैन (आकाशवाणी), ज्ञानवर्द्धनोत्सव वर्ष-केन्द्रीय समिति, नई दिल्ली, प्राप्ति स्थान- कुन्दकुन्द भारती १८बी, स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २०१३, मूल्य- श्रद्धा।

5. EQUANIMITY Volume I
Upādhyāya Amar Muni, Sugal & Damani & Veerayatan, Nalanda (Bihar), I[st] Edition 2012, Price- Rs.200/-

6. The Samayika Sutra Volume I
Upādhyāya Amar Muni, Sugal & Damani & Veerayatan, Nalanda (Bihar), I[st] Edition 2012, Price- Rs.200/-

****

Our Contributors

Padma Muni Ji
C/O Yogesh Jain
J-100, 1/f, R.B.I Colony
Paschim Vihar,
New Delhi-110063

Dr. Veer Sagar Jain
Professor,
Sri Lal Bahadur Shastri National
Sanskrit Vidyapeeth, New Delhi.

Dr. Ashok Kumar Singh
Associate Professor
Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road,
Karaundi, Varanasi

Dr. Shriprakash Pandey
Associate Professor
Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road,
Karaundi, Varanasi

Dr.Archana Rani Dubey
Post Doctoral Fellow
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawahar Lal Nehru University, New Delhi

Pawan Kumar Jain
Deptt.of Sanskrit,
JN Vyas University, Jodhpur. (Raj.)

OUR IMPORTANT PUBLICATIONS

1.	Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I-Vol. VII,	Rs. 1430.00
2.	Hindī Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I-Vol. III Dr. Shitikanth Mishra	Rs. 1270.00
3.	Jaina Pratimā Vijñāna Prof. M.N.P. Tiwari	Rs. 300.00
4.	Sthānakavāsī Jaina Paramparā Kā Itihāsa Dr. S. M. Jain & Dr. Vijaya Kumar	Rs. 500.00
5.	Studies in Jaina Philosophy Dr. Nathmal Tatia	Rs. 200.00
6.	Theaory of Reality in Jaina Philosophy Dr. J. C. Sikdar	Rs. 300.00
7.	Jainism: The Oldest Living Religion Dr. Jyoti Prasad Jain	Rs. 40.00
8.	Scientific Contents in Prakrit Canons Dr. N. L. Jain	Rs. 400.00
9.	Pearls of Jaina Wisdom Editors: Dr. S. M. Jain & Dr. S. P Pandey	Rs. 120.00
10.	Studies in Jaina Art Dr. U.P. Shah	Rs. 300.00
11.	Dr. C. Krause: Her Life and Literature Vol. I Editor : Dr. S. P. Pandey	Rs.500. $ 40-00
12.	Jainism in a Global Perspective Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	Rs. 400.00. $ 19.00
13.	Multi-dimensional Application of Anekāntavāda Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	Rs. 500.00, $ 20.00
14.	Advanced Glossary of Jaina Terms Dr. N. L. Jain	Rs. 300.00
15.	Uttarādhyayana-Sūtra: Eka Pariśīlana (Gujrati) Dr. S. L. Jain , trans. A. Santilal Joshi	Rs. 300.00
16.	Jains Today in the World Pierre Paul Amiel	Rs. 500.00
17.	Kaṣāyapāhuḍa (Chapters on Passion) Dr. N. L. Jain	Rs. 300.00
18.	Jaina Karmagrantha Part I-V (Pt. Sukhlal Sanghvi)	Rs. 400.00
19.	Encyclopaedia of Jaina Studies Vol. I (Art & Architecture)	Rs. 4000.00, $ 100.00
20.	Jaina aur Vedic Paramparā men Draupadī Ek Tulanatmaka Adhyayana- Dr. Sheela Singh	Rs. 450.00
21.	Jainism : A Theistic Philosophy (God in Jainism) Dr. Krishna A. Gosavi	Rs. 500.00, $ 20.00
22.	Prakrit - Hindi Kośa, Ed. Dr. K.R. Chandra	Rs. 1100.00
23.	Concept of Matter in Jaina Philosophy Dr. J.C. Sikdar	Rs. 500.00

Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5